प्रकाशक :—
श्री आत्मानन्द जैन
महासभा पञ्जाब
अम्बाला शहर

विक्रम संवत् २०१५ आत्मसंवत ६३
नवीन संस्करण] मूल्य ७५ नए पैसे [प्रतियां १०००

मुद्रक :—
लाला रोशनलाल जैन
के प्रबंध से जैन प्रिंटिंग प्रेस
अम्बाला शहर में छपी

समर्पणम्

विश्वपूज्य, पञ्जाब देशोद्धारक, न्यायाम्भोनिधि, जैनाचार्य श्री श्री १००८ श्रीमद् विजयानन्द सूरीश्वर जी के पट्टधर पञ्जाब केसरी, अज्ञान तिमिर तरणि, कलिकाल कल्पतरु, युगवीर जैनाचार्य श्रीमद् विजय वल्लभ सूरीश्वर जी के

शिष्य

वन्दनीय उपाध्याय श्री सोहन विजय जी के शिष्य रत्न श्रीमद् विजय समुद्र सूरि जी महाराज

मरुधर देशोद्धारक श्रीमद् विजयललित सूरि जी महाराज के सुशिष्य श्रीमद् विजय पूर्णानन्द सूरि जी महाराज

आचार्य-द्वय

के कर कमलों में
सादर सविनय
समर्पित

विनीत :—
मुनि प्रकाश विजय

प्रस्तावना

इस पुस्तक के रचयिता न्यायाम्भोनिधि जैनाचार्य श्रीमद् विजयानन्द सूरीश्वर जी (प्रसिद्ध नाम श्री आत्माराम जी) महाराज हैं। आप संस्कृत और प्राकृत भाषाओं के प्रसिद्ध विद्वान् थे। उनके समकालीन पाश्चात्य विद्वान् उन्हें जैन धर्म और जैन साहित्य का सबसे बड़ा अधिकारी विद्वान् (authority) मानते थे[१]। भारतीय विद्या के सुविख्यात विद्वान् ए. एफ. रोडल्फ हार्नल आपकी विद्वत्ता पर इतने मुग्ध थे कि उन्होंने उपासक दशांग सूत्र का सम्पादन कर उसे छपवाया और आचार्य श्री जी को भेंट किया और उनकी स्तुति में संस्कृत श्लोक लिखे।

जैन साहित्य को हिन्दी गद्य में लिखने की आपने पहल की और अपनी विद्वत्ता का स्थायी प्रभाव डाला। जैन तत्त्वादर्श, तत्त्वनिर्णय प्रासाद, अज्ञान तिमिर भास्कर, चिकागो प्रश्नोत्तर जैसे महत्त्व पूर्ण ग्रन्थ उनके रचे हुए अनमोल ज्ञान भण्डार हैं। इन ग्रन्थों का स्वाध्याय करने से न केवल जैन धर्म के गूढ़ तत्त्व ज्ञान, कर्मवाद, और अद्वितीय प्राचीन साहित्य से परिचय होता है बल्कि शानदार जैन इतिहास. तीर्थंकरों, गणधरों, जगद्-विख्यात् जैनाचार्यों, राजाओं और महाराजाओं के भव्य कार्यों का ज्ञान होता है और जैन धर्म के महत्त्व का सिक्का हृदय पर अङ्कित होता है। जैन धर्म और जैन साहित्य की जानकारी प्राप्त

---

१. See tribute paid by the World Parliament of Religions held in Chicago (America) 1893 Report.

करने वाले जिज्ञासुओं के लिए आचार्य श्री की रचनाओं का स्वाध्याय करना अत्यन्त उपयोगी है।

जो पुस्तक इस समय पाठकों के हाथ में है वह प्रायः जैन धर्म का प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त करने वालों के लिए लिखी गई है। इसमें जैन धर्म विषयक प्रश्नोत्तर हैं। नवयुवक विद्यार्थियों के लिए इसका पढ़ना विशेषतः लाभदायक है। जैन युवक मण्डलों और स्वाध्याय मण्डलों को यह पुस्तक हर पढ़े लिखे धर्म प्रेमी तक पहुँचाने का यत्न करना चाहिए। इस पुस्तक में जैन धर्म के तत्त्व ज्ञान, कर्म वाद, चौबीस तीर्थंकरों के नाम और परिवार, सूत्र और ग्रन्थों की रचना, श्रमण और श्रावक धर्म और ऐतिहासिक जैन राजाओं का वर्णन है। अस्पृश्यता, जाति-भेद रिश्ता-नाता का दायरा और कई एक महत्त्व के प्रश्नों पर प्रकाश डाला गया है। उन्नीसवीं शताब्दी में जैन धर्म पर कई लाञ्छन लगाए गए थे। कोई कहता था कि जैन धर्म नास्तिक है, जैन धर्म बुद्ध मत की शाखा है, वैदिक धर्म से निकला है। जैनियों का कोई स्वतन्त्र साहित्य और इतिहास नहीं है। आचार्य श्री ने इन सब भ्रान्तियों को अकाट्य प्रमाण देकर दूर किया और जैन साहित्य को प्रकाश में लाकर बौद्ध और वैदिक धर्म शास्त्रों से प्रामाणिक पाठ दिखला कर सिद्ध किया कि जैन धर्म स्वतन्त्र है, प्राचीन है और आस्तिक है। इसका इतिहास निर्मल और साहित्य विशाल है। इन बातों का कुछ दिग्दर्शन इस पुस्तक में भी कराया गया है।

आचार्य श्री जी उन्नीसवीं शताब्दी के शक्तिशाली धार्मिक नेता थे। उनका उद्देश्य रूढ़िवादी परिपाटियों को नए सांचे में ढाल कर नव समाज का निर्माण करना था—ऐसा समाज जो

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव को पहचान कर योग्य परिवर्तन करे। उनके हृदय में विशाल और अमूल्य जैन साहित्य की रक्षा के लिए तड़प थी। शिक्षा प्रचार की लगन थी और वे बेरोजगार सहधर्मी भाईयों को रोजगार पर लगाना, असल सहधर्मीवत्सल मानते थे। इस पुस्तक के प्रश्न १४५ से १५० उनके विचारों को स्पष्ट करते हैं। आशा है कि इस पुस्तक के अध्ययन से पाठकों को जैन धर्म का बोध होगा और आचार्य श्री जी के अन्य साहित्य के स्वाध्याय का शौक भी पैदा होगा।

बाबूराम जैन एम. ए., एल एल. बी. वकील,
मन्त्री—श्री आत्मानन्द जैन महासभा पंजाब।

पुस्तक परिचय और संपादन के विषय में दो शब्द

जंगम युग प्रधान, शासन सम्राट, नवयुग निर्माता पञ्जाब देश धर्मोद्धारक, न्यायांभोनिधि, स्वर्गवासी, प्रातः स्मरणीय पूज्यपाद आचार्य देव श्री श्री श्री १००८ श्री मद्विजयानन्द सूरीश्वर (आत्माराम) जी महाराज ने अहमदाबाद निवासी श्री गिरधरलाल हीरालाल भाई (जो कि उस समय पालनपुर राज्य में न्यायाधीश पद पर सुशोभित थे) की प्रेरणा से जैन धर्म के जिज्ञासुओं तथा स्कूलों एवँ कालेजों के विद्यार्थियों को जैन धर्म का परिचय प्राप्त कराने के लिये इस पुस्तक की रचना की और उसका नाम "श्री जैन धर्म विषयक प्रश्नोत्तर रत्नावली" रखा। आपने इस पुस्तक की रचना मिति पोस सुदि त्रयोदशी विक्रम संवत् १९५५ को पूर्ण कर शेठ गिरधर लाल हीरालाल भाई को दे दी और इस न्यायाधीश ने इस पुस्तक का अपनी निजी लक्ष्मी द्वारा सर्व प्रथम प्रकाशन कराया और अपनी धर्म भक्ति का परिचय देकर जैन धर्म की प्रभावना का लाभ लिया।

इस पुस्तक में कितनी महत्त्वपूर्ण सामग्री का संकलन किया गया है, इस का दिग्दर्शन पाठक महानुभाव स्वयं पढ़ कर करेंगे और अनुभव करेंगे कि सचमुच यह "रत्नावली" (रत्नों का समूह) ही है।

आज तक इस पुस्तक की कई आवृत्तियाँ छप चुकी हैं, तो भी आज यह पुस्तक अप्राप्य है। इस युग में जब कि मानव समाज जड़वाद की तरफ़ आँखें मून्दे दौड़ लगा रहा है और

धर्म के प्रति उदासीन होता जा रहा है, इस पुस्तक के प्रचार की अत्यन्त आवश्यकता है।

इस पुस्तक की भाषा प्राचीन हिन्दी होने से साधारण व्यक्ति इसके पठन-पाठन में असुविधा का अनुभव कर रहे हैं और खास कर वर्तमान स्कूलों और कालेजों के विद्यार्थियों को इसे समझने में कठिनाई होती थी। इसलिये इसका सम्पादन आजकल की हिन्दी भाषा में कराना उपादेय समझकर स्वर्गस्थ आचार्य श्रीमद्विजय वल्लभ सूरीश्वर जी के पट्ट प्रभावक स्वर्गवासी आचार्य श्री मद्विजय ललित सूरि जी महाराज के सुयोग्य शिष्य रत्न आचार्य श्री मद्विजय पूर्णानन्द सूरि जी महाराज के शिष्य रत्न शासन दीपक मुनि श्री प्रकाशविजय जी महाराज (जो कि इस समय अपने सदुपदेशों से पञ्जाब देश को पावन कर रहे हैं) ने मुझे प्रेरणा की। आप की आज्ञा को शिरोधार्य कर मैं ने इस पुस्तक का संशोधन और सम्पादन कार्य किया है।

इस का संशोधन और सम्पादन मैं ने बड़ी सावधानी और परिश्रम पूर्वक किया है। पाठक महानुभावों के लिये यह पुस्तक हर प्रकार से सरल रोचक तथा लाभप्रद बने, इसके लिये भरसक प्रयत्न किया गया है। इसको अधिक उपयोगी और सुबोध बनाने के लिये जहाँ जहाँ आवश्यकता प्रतीत हुई है वहाँ-वहाँ फुट नोट भी दिये हैं। इस कार्य में किसी प्रकार का अपनी ओर से जान-बूझ कर प्रमाद सेवन नही किया गया।

फिर भी मैं छद्मस्थ हूं, अल्पज्ञ हूं इस लिये भूल होना सम्भव है। इस ग्रन्थ के कर्ता स्वर्गस्थ आचार्य गुरु देव ज्ञान के अथाह सागर थे, गीतार्थ शिरोमणि थे, समयज्ञ थे और जैन शासन की प्रभावणा के लिये मनन-चिन्तन, में लगे रहते थे।

उनका आशय समझने में भी मैं भूलकर सकता हूं । मैं ने इस पुस्तक के प्रूफ भी स्वयं नहीं देखे, इसलिये भूल रहना सम्भव है।

अतः पाठक महानुभावों से प्रार्थना है कि इस पुस्तक में जहां कहीं भी वे किसी प्रकार की त्रुटियां या भूल का अनुभव करें वे मुझे अवश्य सूचित करने की कृपा करें। इसके लिये मैं उनका उपकार मानूँगा।

अन्त में पाठक महानुभावों से नम्र निवेदन है कि वे मेरी त्रुटियों और भूलों पर ध्यान न देते हुए इसके पठन-पाठन से पूर्ण लाभ उठायें ।

विनीत :—

हीरालाल दूगड़

आभार प्रदर्शन

अपने जन्म से पञ्जाब की वीर-भूमि को पवित्र करने वाले स्वर्गीय जैनाचार्य श्रीमद् विजयानन्द सूरीश्वर जी (वि. सं. १८९४ से १९५३) का नाम जैन समाज में क्रांति पैदा करने वाले आचार्यों में प्रथम श्रेणी में है। थोड़े से जीवन में उन्होंने जो रचनात्मक कार्य किए, वे इतिहास में विशेष महत्त्व रखते हैं। उन्होंने सत्य की ध्वजा हाथ में लेकर निर्भय हो सद्धर्म का प्रचार किया। उनकी विद्वत्ता, सत्य प्रियता, चरित्र की उत्कृष्टता, प्रतिभा, गहन अध्ययन एवं शास्त्र मन्थन से भारत ही नहीं, पश्चिम भी आकृष्ट हुआ। उनकी कृपा से पञ्जाब में जगह २ जैन मन्दिर बने, भण्डारों के अन्धकार पूर्ण गढ्ढों में पड़े हुए ग्रन्थ रत्न प्रकाश में आए, समाज सुधार के कार्य हुए और साधु समाज में व्याप्त शिथिलता दूर हुई।

आचार्य श्री जी की सब से महती देन हिन्दी गद्य पद्य में ठोस धार्मिक एवं दार्शनिक साहित्य है जो उनके गवेषणात्मक, सत्यात्मक, तुलनात्मक तथा प्रामाणिक दृष्टिकोण का ज्वलन्त प्रमाण है। वे हिन्दी को लोक भाषा मानते थे। विद्वत्तापूर्ण विशाल ग्रंथ रत्नों की रचना के अतिरिक्त उन्होंने साधारण पाठकों के लिए भी जैन धर्म का सरल एवं शीघ्र बोध कराने वाली कुछ पुस्तकें लिखीं जिन में प्रस्तुत पुस्तक विशेष स्थान रखती है।

इसकी प्रथम आवृत्ति गुरुदेव के जीवन काल में ही पालनपुर दरबार के न्यायाधीश श्री गिरधर लाल हीरा भाई ने प्रकाशित की थी। वि. सं. १९६३ में श्री आत्मानन्द जैन सभा

भावनगर ने इसे प्रकाशित किया। वर्षों पहले गुजरात में मुद्रित होने के कारण उस में पर्याप्त अशुद्धियां थीं। यों तो गुरुदेव का प्रत्येक ग्रंथ एक महान् कोश के समान गागर में सागर भरने वाला है परन्तु यह प्रश्नोत्तर संक्षिप्त, सरल तथा सुबोध होने के कारण जैन धर्म के यथार्थ रूप का परिचायक है।

यह पुस्तक पर्याप्त समय से अप्राप्य थी। गत कुछ वर्षों से जैन युवक स्वधर्म ज्ञान तथा स्वाध्याय की ओर प्रवृत्त हुए हैं। उन्हें उपयुक्त साहित्य की आवश्यकता थी। सौभाग्यवश पञ्जाब में विहार करते हुए शासन सेवी मुनिराज श्री प्रकाश विजय जी का ध्यान इस ओर गया और उन्होंने इस पुस्तक को सुसंपादित करवा कर पुनः प्रकाशित करवाने का बीड़ा उठाया। महासभा उनकी विशेषरूपेण आभारी है। हमें विश्वास है कि उनकी ऐसी प्रवृत्तियों से समाज तथा साहित्य सेवा का ठोस काम होगा।

पुस्तक का संपादन श्री आत्मानन्द जैन हाई स्कूल अंबाला शहर के धर्माध्यापक व्याख्यान दिवाकर विद्याभूषण पं० हीरालाल जी जैन दूगड़ न्यायतीर्थ, न्याय मनीषी ने किया है। हम उनका आभार मानते हैं। उन्होंने पुरानी भाषा को नवीन रूप दिया है और जगह जगह उपयुक्त टिप्पणियां देकर इसे उपयोगी बनाया है। पाठक अनुभव करेंगे कि सम्पादन योग्यता एवं परिश्रम पूर्वक किया गया है।

पुस्तक के प्रकाशन में अनेक कारणों से विलम्ब हुआ। तदर्थ हम मुनि प्रकाश विजय जी से क्षमा चाहते हैं। कागज आदि की कठिनाई के कारण भी हम पुस्तक को आशानुकूल रूप नहीं दे सके। पाठकों के सुझाव आगामी संस्करण को और भी उपयोगी बनाने में सहायक होंगे।

इस पुस्तक के प्रकाशन में निम्नलिखित महानुभावों ने आर्थिक सहायता दी है जिसके फल स्वरूप इसका मूल्य लागत से भी कम रखा गया है। मैं इन सज्जनों का हृदय से कृतज्ञ हूं:—

१. श्राविका संघ अम्बाला शहर १०५) रु०

२. ला० ताराचन्द निरंजनदास अम्बाला शहर १०१) रु०

३. श्रीमती सुमित्री देवी माता ला० कस्तूरी लाल जैन अम्बाला शहर ५१) रु०

४. श्रीमती मेला देवी धर्मपत्नी लाला खुशीराम जैन ५१) रु०

५. श्रीमती अमलादेवी ध० प० ला० तिलकचन्द जैन जालन्धर शहर १०१) रु०

जैन दर्शन

प्रो० पृथ्वीराज जैन एम. ए. शास्त्री.

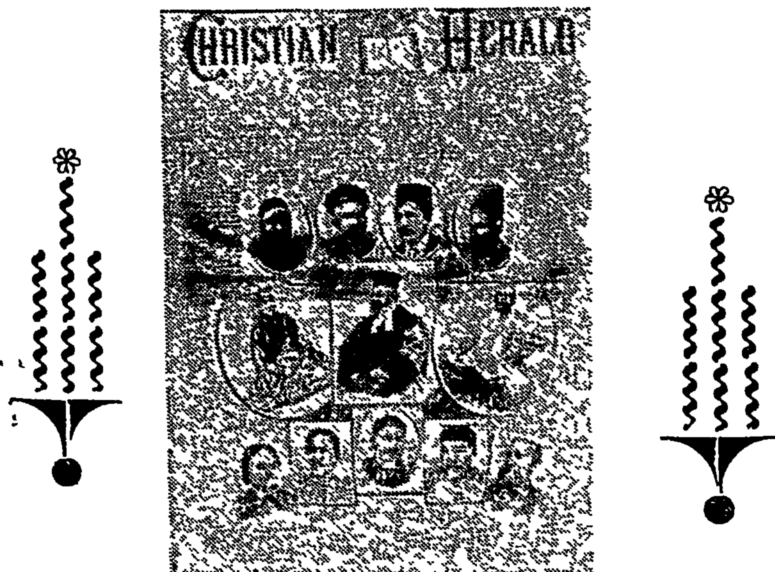
संयुक्त मन्त्री :—

श्री आत्मानन्द जैन महासभा पञ्जाब अम्बाला शहर।

जैन धर्म विषयक प्रश्नोत्तर

विषयानुक्रमणिका

एक ऐतिहासिक चित्र :— विश्व धर्म परिषद और जैन धर्म पुस्तिका में जरूर छापें



पाठकों को ज्ञात होगा कि ११ सितम्बर १८९३ ई० से २७ सितम्बर तक चिकागो (अमेरिका) में एक महान् विश्व धर्म परिषद् का आयोजन हुआ। इस पुस्तक के लेखक आचार्य प्रवर श्री आत्माराम जी अपने समय के लब्धप्रतिष्ठ सुविख्यात विद्वान् थे। उन्हें जैन धर्म का प्रतिनिधित्व करने आमंत्रित किया गया था। उन्होंने श्री वीरचन्द राघव जी गांधी को अपना प्रतिनिधि बनाकर भेजा। न्यूयार्क के प्रसिद्ध पत्र Christian Herald में ६—९—१८९३ ई० को विश्व के महान् धर्मों के प्रतिनिधियों की फोटो प्रकाशित हुईं। उनमें हमारे आराध्य गुरुदेव का चित्र भी है।



॥ श्री अर्हँ नमः ॥

श्री जैन धर्म विषयक प्रश्नोत्तर

१-प्र०—जिन और जिन-शासन इन दोनों शब्दों का क्या अर्थ है ?

उ०—राग, द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, काम, अज्ञान, रति, अरति, शोक, हास्य, जुगुप्सा (घृणा), मिथ्यात्व इत्यादि भाव शत्रुओं को जीतने वाले को जिन कहते हैं। जिन शब्द का यह अर्थ है।

ऐसे जिन की जो शिक्षा (उत्सर्गापवाद[1] रूप मार्ग द्वारा हित की प्राप्ति और अहित का परिहार) है उसे जिन शासन कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जिन के कथनानुसार आचार करना, जिन शासन शब्द का अर्थ है। (अभिधान चिंतामणि तथा अनुयोग द्वार आदि।)

२-प्र०—जिन शासन का सार क्या है ?

उ—जिनशासन और द्वादशांग[2] ये एक ही के दो नाम हैं। द्वादशांग का सार आचारांग[3] है। आचारांग का सार इस के अर्थ को यथार्थ रूप से जानना है। अर्थ को यथार्थ रूप से जानने का सार दूसरों को यथार्थ रूप से उपदेश देना है। उस उपदेश का सार चारित्र अङ्गीकार (स्वीकार) करना है।

१—त्याग और आज्ञा, २—तीर्थंकरों के द्वारा प्रकाशित ज्ञान को उन के परम मेधावी साक्षात शिष्य गणधरों ने ग्रहण करके उस ज्ञान को जो द्वादशांग रूप में सूत्रबद्ध किया उसी का दूसरा नाम जिन शासन है। ३—उन द्वादशांगों में से आचारांग हला है, इस में मुनि के चारित्र धर्म का वर्णन है।

प्राणीवध (जीवहिंसा) मृषावाद (झूठ बोलना) अदत्तादान (चोरी करना) मैथुन (भोगविलास) परिग्रह (वस्तुसंग्रह लालसा) और रात्रि भोजन, इन सब के त्याग को चारित्र कहते हैं अथवा चरण[1] सत्तरी के ७० भेद तथा करण[2] सत्तरी के ७० भेद ये कुल १४० भेद मूलगुण[3]-उत्तरगुण[4] रूप धारण करने को चारित्र कहते हैं। चारित्र का सार निर्वाण है अर्थात् सर्वकर्म जन्य उपाधि रूप अग्नि से रहित हो जाना-शीतल हो जाना उसे निर्वाण कहते हैं। निर्वाण का सार अव्याबाध अर्थात् शारीरिक और मानसिक पीड़ा रहित सदा सिद्ध मुक्त स्वरूप में रहना है। यही जिन शासन का सार है।

(आचारांग निर्युक्ति)

३-प्र०—तीर्थंकर कौन, किस जगह और किस काल में होते हैं ?

उ० जो जीव तीर्थंकर होने के भव से पहले के तीसरे भव में वीसस्थानक (बीस प्रकार के कृत्य) करके तीर्थंकर नाम कर्म रूप निकाचित[5] पुण्य उपार्जन करते हैं, वे वहां से काल करके (मृत्यु पाकर) प्रायः देवलोक (स्वर्ग) में उत्पन्न होते हैं। वहां से काल करके मनुष्य क्षेत्र में बहुत भारी ऋद्धि और परिवार वाले उत्तम शुद्ध राज्य कुल में जन्म लेते हैं। यदि पूर्व जन्म

१–चारित्र के ७० भेद, २–क्रिया के ७० भेद, ३–मूल गुण अर्थात् साधु-श्रावक के मुख्य पांच (अहिंसा-सत्यादि) व्रत, ४–उत्तर गुण जो व्रत मूल गुणों में निर्मलता तथा वृद्धि करे।

५–जिन कर्मों का फल बन्ध के अनुसार निश्चय ही भोगा जाता है, जिन्हें बिना भोगे छुटकारा नहीं होता, वे निकाचित कर्म कहलाते हैं।

में निकाचित पुण्य से भोग्य कर्म उपार्जन किया हो तो वे भोग्य कर्मों के अनुसार मनोहर राज्य-भोग-विलास आदि भोगते हैं। यदि भोग्य कर्म उपार्जन न किया हो तो राज्य भोग नहीं करते। तीर्थंकर होने वाले इन जीवों को माता के गर्भ में ही अवश्यमेव तीन ज्ञान—मति, श्रुत, अवधि होते हैं। अपनी दीक्षा का समय तीर्थंकरों के जीव अपने ज्ञान से ही जान लेते हैं। दीक्षा लेने से एक वर्ष पहले लोकांतिक देवता आकर कहते हैं :—"हे भगवन् धर्म तीर्थ-प्रवर्ताओ"। तदनन्तर एक वर्ष तक तीन सौ अठासी करोड़, अस्सी लाख (३८८८००००००) सोने की मोहरें दान दे कर, यदि माता पिता विद्यमान हों तो उन की आज्ञा लेकर, यदि न हों तो भाई आदि कुटुम्ब की आज्ञा ले कर बड़े महोत्सव-पूर्वक स्वयमेव दीक्षा ग्रहण करते हैं। किसी को गुरु नहीं बनाते क्योंकि वे तो स्वयं ही त्रिलोकी के गुरु होने वाले हैं और ज्ञानवान् हैं। दीक्षा लेकर सर्व पापों का त्याग कर के महान् अद्भुत तप करते हैं जिस से चार घाती कर्मों को क्षय कर के केवली होते हैं। फिर संसार तारक उपदेश देकर धर्मतीर्थ को करते हैं। ऐसे पुरुष तीर्थंकर होते हैं।

तीर्थंकर पन्द्रह क्षेत्रों में उत्पन्न होते हैं तथा इस भरतखंड में साढ़े पच्चीस आर्य देशों में उत्पन्न होते हैं। वे साढ़े पच्चीस देश इस प्रकार स्थित हैं :—उत्तर तरफ़ हिमालय पर्वत, दक्षिण तरफ विंध्याचल पर्वत तथा पूर्व-पश्चिम समुद्रांत तक को आर्य-वर्त कहते हैं। इस के अन्दर ही साढ़े पच्चीस देश हैं जहां तीर्थंकर उत्पन्न होते हैं।

(अभिधान चिंतामणि तथा पन्नवणा आदि शास्त्र)

अवसर्पिणी काल के छः आरे अर्थात् विभाग हैं। उन में से तीसरे चौथे विभाग में और इसी प्रकार उत्सर्पिणी काल के

भी छः विभागों में से तीसरे चौथे विभाग में तीर्थंकर उत्पन्न होते हैं[1]। (जम्बुद्वीप प्रज्ञप्ति आदि)

१–तीर्थंकर पद को प्राप्त करने के लिये इस प्रश्न में जिन बीस स्थानकों का उल्लेख किया है, वे इस प्रकार हैं :–१–अरिहंत, २–सिद्ध, ३–प्रवचन–संघ, ४– गुरु-आचार्य, ५–स्थविर, ६–बहुश्रुत, ७–तपस्वी इन सातों के प्रति शुद्ध निष्ठापूर्वक वात्सल्य (अनुराग) रखने से ; तथा सातों का यथावस्थित गुणकीर्तनादि उपचार करने से ; ८–इन उपर्युक्त सातों अरिहंतादि पदों का अपने ज्ञान में बार-बार (निरन्तर) स्वरूप का चिन्तन करने से; ९–दर्शन-सम्यक्त्व अर्थात् वीतराग के कहे हुए तत्त्वों पर निर्मल और दृढ़ श्रद्धा रखने से; १०–ज्ञानादि और उनके साधनों के प्रति निरतिचार विनय-बहुमान रखने से; ११–जो संयम के लिये अवश्य करने योग्य व्यापार है उसे आवश्यक कहते हैं ऐसे सामायिक आदि षड् आवश्यकों को निरतिचार पालने से; १२–मूल गुण (अहिंसा-सत्यादि) पाँच महाव्रतों को तथा-उत्तर गुण पिंड विशुद्धयादिक (आहार आदि शुद्धि पूर्वक ग्रहण करना) को (इन दोनों को) निरतिचार पालने से; १३–क्षण, लव, मुहूर्तादि काल में संवेग भावना (सांसारिक भोग जो वास्तव में सुख के बदले दुःख के ही साधन बनते हैं उन से डरते रहना) रूप शुभ ध्यान करने से; १४–(अपनी थोड़ी भी शक्ति को विना छुपाये) उपवासादि तप तथा यति साधुजन को उचित दान देने से; १५–(कोई भी गुणवान् यदि कठिनाई में पड़े उस समय योग्य रीति से उस कठिनाई को दूर करने के प्रयत्न को वैयावृत्य कहते हैं) इस प्रकार की वैयावृत्य करने से; १६–(चतुर्विध संघ तथा विशेष कर) गुरु आदि को समाधि पहुँचाना अर्थात् वैसा

४-प्र०—तीथकर भगवान् क्या करते हैं? उन के गुणों का वर्णन करो।

उ०—तीर्थंकर भगवान् बदले के उपकार की इच्छा न रखते हुए राजा रंक, ब्राह्मण से चांडाल पर्यन्त सब प्रकार के योग्य पुरुषों को एकान्त हितकारक, संसार समुद्र से तारक धर्म देशना (धर्मोपदेश)देते हैं।

तीर्थंकर भगवान् के गुणों का पारावार नहीं है, उन के गुण अनन्त हैं, इस लिये इन्द्रादि भी उन के गुणों का वर्णन करने में असमर्थ हैं तो फिर मेरे जैसे अल्प बुद्धि वाले की तो शक्ति ही क्या है, तथापि भव्य जीवों के जानने के लिये यहां संक्षेप से कुछ गुणों का वर्णन करता हूं :—

१. अनन्त केवल ज्ञान, २. अनन्त केवल दर्शन, ३. अनन्त चारित्र, ४. अनन्त तप, ५. अनन्त वीर्य (बल) ६. अनन्त पांच लब्धियां, ७. क्षमा, ८. निर्लोभता, ९. सरलता, १० निरभिमानता, ११. लाघवता, १२. सत्य, १३. संयम, १४. निरिच्छिकता (इच्छा रहित), १५. ब्रह्मचर्य

करना जिस से वे स्वस्थ रहें; १७—अपूर्व अर्थात् नये-नये ज्ञान का अभ्यास करने से; १८—श्रुत भक्ति-प्रवचन की प्रभावना करने से; १९—शास्त्र का बहुमान करने से; २०—यथाशक्ति अर्हदुपदिष्ट मार्ग की देशनादि करके शासन की प्रभवाना करने से तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध होता है।

(नोट) कोई जीव इन बीस कृत्यों में से किसी एक कृत्य से, कोई दो से, कोई तीन से यावत् बीस कृत्यों द्वारा भी तीर्थंकर नाम कर्म का बन्ध करता है।

(ज्ञाताधर्मकथांग, कल्पसूत्र, आवश्यकादि शास्त्र)

१६. दया, १७. परोपकारता, १८. राग द्वेष रहितता, १६. शत्रु मित्र भाव रहित, २०. स्वर्ण पाषाणादि पर समभाव, २१ स्त्री तृण पर समभाव, २२ मांसाहार रहित, २३. मदिरापान रहित २४. अभक्ष्य भक्षण रहित, २५. अगम्य गमन रहित, २६. करुणा के समुद्र, २७. शूर, २८. वीर, २६. धीर, ३०. अक्षोभ्य, ३१ पर निन्दा रहित, ३२. अपनी स्तुति न करे, ३३. अपने विरोधी को भी तारने वाले इत्यादि।

५-प्र०—जैन मत में जो महाविदेह आदि क्षेत्र कहे हैं, वहां यहां का कोई मनुष्य जा सकता है या नहीं?

उ०—नहीं जा सकता, क्योंकि रास्ते में बर्फ पानी जम गया है और बड़े-बड़े ऊंचे पर्वत तथा बड़ी-बड़ी नदियां एवं उद्दंड जंगल रास्ते में हैं।

६-प्र०—भरत क्षेत्र कौन सा है और कितना लम्बा चौड़ा है?

उ०—जिस में हम रहते हैं यह भरतखंड है। इस की चौड़ाई दक्षिण से उत्तर तक ५२६० से कुछ अधिक (उत्सेद्धांगुल[1] के हिसाब से) कोस है तथा वैताढ्य पर्वत के पास लम्बाई कुछ अधिक ६०००० (उत्सेद्धांगुल के हिसाब से) कोस है। जैन धर्म वाले चीन रूस आदि सब देशों को भरतखंड में ही मानते हैं। कई आचार्य भरतखंड का प्रमाण अन्य प्रकार के योजनों से मानते हैं किन्तु अनुयोगद्वार की चूर्णि के कर्ता जिन दास गणि क्षमाश्रमण इन के मत को सिद्धांत का मत नहीं मानते। (अनुयोगद्वार चूर्णि तथा अङ्गुलसत्तरी)।

१-आठ यवमध्य का एक उत्सेधांगुल होता है।

७-प्र०—इस भरतक्षेत्र में आज से पहले कितने तीर्थंकर हो गये हैं ?

उ०—इस अवसर्पिणि काल में आज से पहले चौबीस तीर्थंकर हो गये हैं। यदि समुच्चय अतीत काल में हो गये तीर्थंकरों की संख्या पूछते हो तब ता अनन्त तीर्थंकर इस भरतखण्ड में हो गये हैं।

८-प्र०—इस अवसर्पिणि काल में इस भरतखण्ड में जो चौबीस तीर्थंकर हो गये हैं उन के नाम बतला दीजिये।

उ०—१. श्रीऋषभदेव (आदिनाथ आदि देव) २. श्री अजितनाथ, ३. श्री संभवनाथ, ४. श्री अभिनन्दन नाथ, ५. श्री सुमतिनाथ, ६. श्री पद्म प्रभु, ७. श्री सुपार्श्वनाथ, ८ श्री चन्द्रप्रभु, ९. श्री सुविधि नाथ (पुष्पदंत) १० श्री शीतलनाथ, ११. श्री श्रेयांसनाथ, १२. श्री वासु पूज्य, १३ श्री विमल नाथ, १४. श्री अनन्त नाथ, १५. श्री धर्म नाथ, १६. श्री शांति नाथ, १७. श्री कुंथुनाथ, १८. श्री अर नाथ, १९ श्री मल्लि नाथ, २०. श्री मुनि सुव्रतवामी, २१. श्री नमि नाथ, २२. श्री नेमि नाथ (अरिष्टनेमि) २३. श्री पार्श्वनाथ; २४. श्री महावीर स्वामी (वर्धमान)। ये वर्त्तमान अवसर्पिणि काल में इस भरतखण्ड में हो गये चौबीस तीर्थंकरों के नाम हैं।

९-प्र०—इन चौबीस तीर्थंकरों के माता-पिता के नाम क्या क्या थे ?

उ०—चौबीस तीर्थंकरों के माता पिता के नाम नीचे लिखते हैं :—

संख्या	तीर्थंकर नाम	पिता का नाम	माता का नाम
१.	श्री ऋषभ देव	श्री नाभि कुलकर	मरु देवी
२.	श्री अजित नाथ	,, जितशत्रु	विजय
३.	श्री संभव नाथ	,, जितारि	सना
४.	श्री अभिनन्दन नाथ	,, संवर	सिद्धार्था
५.	श्री सुमति नाथ	,, मेघ	मंगला
.	श्री पद्म प्रभु	,, धर	सुसीमा
७.	श्री सुपार्श्व नाथ	,, प्रतिष्ठ	पृथ्वी
८.	श्री चन्द्र प्रभु	,, महसेन	लक्ष्मणा
९.	श्री सुविधि नाथ	,, सुग्रीव	रामा
१०.	श्री शीतल नाथ	,, दृढ़रथ	नन्दा
११.	श्री श्रेयांस नाथ	,, विष्णु	विष्णुश्री
१२.	श्री वासु पूज्य	,, वसुपूज्य	जया
१३.	श्री विमल नाथ	,, कृतवर्म्मा	श्यामा
१४.	श्री अनन्त नाथ	,, सिंहसेन	सुयशा
१५.	श्री धर्म नाथ	,, भानु	सुव्रता
१६.	श्री शांति नाथ	,, विश्व सेन	अचिरा
१७.	श्री कुंथु नाथ	,, सूर	श्री
१८.	श्री अर नाथ	,, सुदर्शन	देवी
१९.	श्री मल्लि नाथ	,, कुम्भ	प्रभावती
२०.	श्री मुनिसुव्रतस्वामी	,, सुमित्र	पद्मावती
२१.	श्री नमि नाथ	,, विजय सेन	वप्रा
२२.	श्री अरिष्ठनेमि	,, समुद्रविजय	शिवा
२३.	श्री पार्श्व नाथ	,, अश्वसेन	वामा
२४.	श्री महावीरस्वामी	,, सिद्धार्थ	त्रिशला

इन चौबीस ही तीर्थंकरों के पिता क्षत्रिय जाति के राजा थे। बीसवें और बाईसवें (ये दोनों) तीर्थंकर हरि वंशकुल में उत्पन्न हुए थे और गौतम गोत्रीय थे। बाकी के बाईस तीर्थंकर ईक्ष्वाकु वंश में उत्पन्न हुए थे और काश्यप गोत्रीय थे।

१०-प्र० —श्री ऋषभ देव जी से पहले इस भरतखंड में जैन धर्म था या नहीं ?

उ०—श्री ऋषभ देव जी से पहले इस अवसर्पिणि काल में इस भरतकंड में जैन धर्मादि किसी भी मत का धर्म नहीं था। इस कथन में जैन शास्त्र प्रमाण हैं।

११-प्र०—जैसा धर्म श्री ऋषभ देव स्वामी ने चलाया था क्या आज तक वैसा ही धर्म चला आता है अथवा उस में कुछ फेर-फार भी हुआ है ?

उ०—श्री ऋषभ देव जी ने जैसा धर्म चलाया था वैसा ही महावीर भगवान् ने चलाया। सो आज पर्यन्त भी वैसा ही चला आता है, इस में किञ्चित् मात्र भी फर्क नहीं है। उसी धर्म का नाम आजतक जैन धर्म है।

१२-प्र०—श्री महावीर स्वामी ने जिस जगह जन्म लिया था आज तक (यानि विक्रम संवत् १६४५ तक) कितने वर्ष हुए हैं?

उ०—श्री महावीर स्वामी का जन्म क्षत्रिय कुंड ग्राम नामक नगर में हुआ था। विक्रम संवत् १६४५ तक २४८७ वर्ष के लग भग हुए हैं। विक्रम संवत् से ५४२ वर्ष पहले चैत्र शुक्ला १३ मंगलवार की रात्रि में उत्तराफाल्गुणि नक्षत्र के प्रथम पाद में जन्म हुआ।

१३-प्र०—क्षत्रियकुंड ग्राम नामक नगर किस जगह था ?

उ०—पूर्वदेश में विहार प्रांत में कुंडल पुर के समीप ही था।

१४-प्र०—भगवान् श्री महावीर स्वामी देवानन्दा ब्राह्मणी की कुक्षी में किस कारण वश उत्पन्न हुए थे ?

उ०—भगवान् श्री महावीर स्वामी के जीव ने मारीचि (भगवान् ऋषभ देव के पुत्र भरत चक्रवर्ति के पुत्र अर्थात्

भगवान् श्री ऋषभ देव के पौत्र) के भव में अपने उच्च गोत्र और कुल का मद (अभिमान) किया था। उस समय इसने नीच गोत्र कर्म बांधा था। वह नीच गोत्र कर्म अनेक भवों में भोगना पड़ा उस में से थोड़ा सा नीच गोत्र कर्म भोगना बाकी रह गया था। उस के प्रभाव से देवानन्दा के गर्भ में पैदा हुए और नीच गोत्र कर्म को भोगा।

१५-प्र०—यदि हम लोग अपनी जाति और कुल का मद (अभिमान) करें तो हमें अच्छा फल प्राप्त होगा या बुरा ? मद करना अच्छा है या बुरा ?

उ०—जो मनुष्य चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, अपनी जाति, कुल, बल, रूप, तप, ज्ञान, लाभ और ऐश्वर्य में से इस भव में जिस बात का मद करेगा, आगामी भव में वह प्राणी उस बात को नीच, तुच्छ और हीन प्राप्त करेगा अर्थात् उसे आठों ही वस्तुएं नीच तुच्छ और हीन मिलेंगी। अतः बुद्धिमान् पुरुषों को चाहिये कि वे उपर्युक्त आठों प्रकार की वस्तुओं में से किसी भी प्रकार का मद न करें।

१६-प्र० जितने मनुष्य जैन धर्म को पालते हैं उन सब को अपने भाई के समान मानना चाहिये या नहीं ? यदि भाई समान मानना चाहिये तो उन के साथ खाने-पीने में किसी प्रकार की आपत्ति है या नहीं ?

उ०—जितने मनुष्य जैन धर्म को पालते हैं उन सब के साथ सगे भाइयों से भी बढ़ कर स्नेह (प्रेम) करना चाहिये। इस बात का कथन श्राद्ध दिनकृत्य ग्रंथ में है। और उन की जाति यदि लोक व्यवहार से अस्पृश्य न हो तो जैन शास्त्रों के अनुसार उन के साथ खाने-पीने में किसी भी प्रकार की बाधा

अथवा आपत्ति नहीं है। इस की पुष्टि निम्नलिखित प्रमाण से स्पष्ट करते हैं :—

श्रीमाल नगर (जिसे अब भीनमाल भी कहते हैं) का राजा पंवार वंशी भीम सेन का पुत्र राजा श्री पुञ्ज था। उस का पुत्र राजा उत्पल (ऊपलदे) कुमार ने अपने मंत्री उहड़ को साथ लेकर अठारह हज़ार कुटुम्बों के साथ किसी कारण वश दूसरा नगर बसाने के लिये श्रीमाल नगर से निकल कर वर्तमान समय में जिस स्थान पर जोधपुर वसा है, उस से पंद्रह कोस की दूरी पर उत्तर दिशा में लाखों मनुष्यों की बस्ती रूप उपकेशपट्टण नामक नगर बसाया। यह नगर थोड़े ही समय में अच्छी शोभा से युक्त हो गया। तेईसवें तीर्थंकर श्री पार्श्व नाथ स्वामी के छटे पाटधारी श्री रत्नप्रभ सूरि महाराज वीर संवत् ७० (महावीर स्वामी के निर्वाण से सत्तर वर्ष बाद) अर्थात् विक्रम संवत् ४०० वर्ष पहले इस नगर में पधारे और उन्हों ने राजा ऊपलदे पंवार तथा मंत्री उहड़ सहित सवालाख मनुष्यों (स्त्री-पुरुषों) को जैन धर्मी बना कर श्रावक धर्म के बारह व्रतों से सुशोभित किया। और उन के अठारह गोत्र स्थापन किये जो कि निम्नलिखित हैं :—

१. तातहड़। २. बाफणा। ३ कर्णाट। ४. बलहरा ५. मोराक्ष। ६. कुलहट। ७ विरहट। ८. श्री श्रीमाल। ९. श्रेष्ठि। १० सुचिंति। ११. आईचणांग। १२. भूरि (भटेवरा)। १३. भाद्र। १४. चोचट। १५. कुम्भट। १६. डिंड। १७. कनोज। १८. लघुश्रेष्ठि।

ये अठारह ही जैनी होने के कारण पुत्र-पुत्रियों का विवाह करने लगे और परस्पर खाने-पीने लगे। इन में से कितने ही गोत्र वाले राजपूत थे, कितने ही गोत्र वाले ब्राह्मण

थे और कितने ही गोत्र वाले बनिये (वैश्य) थे। इस लिये यह कार्य यदि जैन शास्त्रों के अनुकूल न होता तो आचार्य महाराज श्री रत्नप्रभ सूरि इन सब श्रावकों का रोटी-बेटी व्यवहार एक न करते। इसी प्रकार बाद में ओसवाल, पोरवाल, आदि वंश स्थापन किये गये हैं।

जैन जातियों में परस्पर रोटी-बेटी व्यवहार के लिये अन्य तो कोई अड़चन नहीं है किन्तु आज कल के वैश्य लोग अभिमान वश अन्य किसी जाति वाले श्रावकों को अपने समान नहीं समझते हैं; केवल यही अड़चन है।

१७-प्र०—जो लोग जैन धर्म नहीं पालते उन के साथ तो हम खाने-पीने का व्यवहार नहीं करते, परन्तु जो लोग जैन धर्म पालते हैं उन के साथ हमें उक्त व्यवहार करना चाहिये अथवा नहीं ?

उ०—हम ने अपना अभिप्राय तो प्रश्न नं० १५ और १६ में लिख दिया है। किन्तु यह व्यवहार करना या न करना बनिये (वैश्य) लोगों के हाथ में है।

१८-प्र०—जैन धर्म को पालने वालों में भिन्न भिन्न जातियां देखने में आती हैं, सो ये सब जातियां जैन शास्त्रों के अनुसार हैं अथवा नहीं ? और यह सब जातियां कौन से समय में बनी हैं ?

उ०—जैन धर्म को मानने वाली जितनी भी जातियां इस समय विद्यमान हैं वे सब किन्हीं ग्राम, नगर, पुरुष अथवा धन्धों के नाम के अनुसार प्रचलित हुई प्रतीत होती हैं। जैसे कि :—

१. श्री श्रीमाल-श्रीमाल-ओसवाल वंश की स्थापना—

नाम करण के कारण तथा स्थापना का संवत् तो हम प्रश्न नं० १६ के उत्तर में लिख आये हैं । २. पोरवाल वंश को श्री हरिभद्र सूरि (स्वर्ग गमन वि० सं० ५८५) ने मेवाड़ देश में स्थापित किया था। ३. जयपुर के समीप खंडेला नगरी में वीर० सं० ६४३ में जिन सेनाचार्य ने ८२ गांव राजपूतों के और दो गांव सुनारों के कुल ८४ गांव के लोगों को जैन धर्मी बनाया, इस लिये खंडेला नगरी के नाम पर ये खंडेलवाल बनिये कहलाये जिन्हें जयपुर आदि देशों में सरावगी भी कहते हैं। ४. विक्रम संवत् २१७ के लग भग अग्रोहा नगर में राजा अग्र के पुत्रों तथा हजारों नगर वासियों को लोहाचार्य ने जैन धर्मानुयायी बनाया। बाद में अग्रोहा नगर के उजड़ जाने और राजभ्रष्ट होने से वहां के लोग अन्य नगरों में जा बसे। तब से नगर तथा राजा के नाम से ये लोग अग्रवाल कहलाने लगे एवं व्यापार वाणिज्य करने से बनिये कहलाने लगे। वर्तमान काल में पंजाब देशांतर्गत हिसार नगर से दस कोस के अन्तर पर अग्रोहा नगर एक बहुत बड़े विध्वंस टीले के रूप में विद्यमान है। इस प्रकार जैन धर्म को मानने वाली सब जातियां जो वर्तमान काल में विद्यमान हैं उन को श्री महावीर प्रभु के ७० वर्ष बाद से लेकर विक्रम संवत् १५७५ (वीर सं० २०४५) तक जैनाचार्यों ने स्थापित किया, जो बाद में अलग अलग देश-नगर-गांव-पुरुष-धंधों आदि के नाम से अपने आप प्रसिद्ध हो गयीं। किन्तु इन सब जातियों से पहले चारों ही वर्ण जैन धर्म को पालते थे। इस समय की जातियां तब नहीं थीं।

इस प्रश्नोत्तर में जो-जो प्रमाण मैं ने दिये हैं वे सब अनेक ग्रंथों का अवलोकन करके लिखे हैं परन्तु अपनी मनः कल्पना से नहीं लिखे हैं।

१६-प्र०—उपर्युक्त जैन धर्मानुयायी जातियों में से एक जाति वाले दूसरी जाति वालों से अपनी जाति को उत्तम मानते हैं और जातिगर्व करते हैं, ऐसा करने से उन्हें क्या फल मिलेगा ?

उ०—जो लोग अपनी जाति को उत्तम मान कर अन्य जातियों को अपने तुल्य नहीं समझते, उनकी यह धारणा अज्ञान वश रूढ़ि से चली हुइ प्रतीत होता है। क्योंकि हम वर्तमान जैन जातियों के निर्माण का वर्णन कर चुके हैं। अनेक वर्ण वालों को मिला कर उस एक-एक जाति का निर्माण हुआ। उस समय उन जातियों को परस्पर पुत्र-पुत्री का विवाह करने में तथा एक साथ बैठ कर एक खाने में कोई आपत्ति प्रतीत नहीं हुई तो फिर जो जाति वाले अपने आप को ऊंचा मान कर अन्य जैन जातियों को अपने तुल्य नहीं समझते ; यह उन की अज्ञानता नहीं तो और क्या है। ऐसा करने से जाति मद के कारण जन्मांतर में नीच जाति को प्राप्त होंगे। यह फल होगा।

२०-प्र० जैन धर्म को मानने वाली सब वैश्य जातियां एक साथ मिल जावें और जात-पात का भेद-भाव निकल जावे तो इस के लिये जैन शास्त्रों से कुछ विरोध आता है या नहीं ?

उ०—जैन शास्त्रों में तो जिस काम के करने से धर्म में दोष लगे उस काम के करने की मनाही है। बाकी तो लोगों ने अपनी-अपनी रूढ़ियां मान रखी हैं। जिस प्रकार पूर्व के जैनाचार्यों ने अनेक जातियों को मिला का ओसवालों की एक जाति बनाई (खंडेलवाल, पोरवाल, अग्रवाल इत्यादि एक-एक जाति अनेक जातियों को मिला कर बनायी थी) उसी प्रकार वर्तमान काल में भी कोई समर्थ पुरुष सब जैन जातियों को इक्ट्ठा करे तो जैन शास्त्र से कोई विरोध नहीं आता।

२१-प्र०—श्री महावीर भगवान् को देवानन्दा ब्राह्मणी की कुक्षी से त्रिशला क्षत्रियाणी की कुक्षी में किस ने और कैसे हरण किया था ?

उ०—प्रथम देव लोक के इंद्र की आज्ञा से उस के सेवक हरिणगमेषी देवता ने संहरण किया था। इस का कारण यह है कि कदाचित् नीच गोत्र कर्म के प्रभाव से तीर्थंकर होने वाला जीव नीच कुल में उत्पन्न हो जावे तो उस समय अनादि लोक स्थिति के नियमों से इन्द्र अपने सेवक देवता से यह कार्य करवाता है क्योंकि नीच गोत्र कर्म के प्रभाव से तीर्थंकर का जीव नीच कुल में उत्पन्न तो हो जाता है किन्तु उस का जन्म नहीं होता है।

२२-प्र० अपनी शक्ति से महावीर स्वामी त्रिशला की कुक्षी में क्यों न गये ?

उ०—जन्म, मरण तथा गर्भ में उत्पन्न होना ये सब कर्माधीन हैं। निकाचित (अवश्य भोगे बिना जो न दूर हों ऐसे) कर्मों के उदय से जीव को वैसी अवस्था अवश्य ही प्राप्त करनी पड़ती है। इस के आगे किसी की भी शक्ति नहीं चल सकती।

जो लोग ईश्वरावतार देहधारी को सर्व शक्तिमान् मानते हैं वे मात्र अपने माने हुए ईश्वर की महत्ता बतलाने के लिये ही कहते हैं। यदि पक्षपात छोड़ कर विचार करें तो ज्ञात होता है कि "जो चाहे सो कर सके," ऐसा कोई भी ब्रह्मा, शिव, हरि, क्राईस्ट इत्यादि व्यक्ति नहीं हुआ है। इन के ग्रंथों में ही इन के कर्तव्यों के पढ़ने से इन में सर्वशक्ति का अभाव ज्ञात हो जावेगा। इस लिये सर्व जीव अपने किये हुए कर्मों के अधीन हैं। इस हेतु से श्री महावीर स्वामी अपनी शक्ति से त्रिशला माता की कुक्षी में नहीं जा सके थे।

२३–प्र०—भगवान् महावीर स्वामी के कितने नाम थे ?

उ०—१. वीर, २. चरम तीर्थकृत, ३. महावीर, ४. वर्धमान, ५. देवार्य, ६. ज्ञातनन्दन ये छः नाम हैं।

१. वीर-यह नाम अनेक सूत्रों में है। २. चरमतीर्थकृत कल्पादि सूत्रों में। ३. महावीर, ४. वर्धमान ये नाम सर्वत्र प्रसिद्ध हैं और बहुत शास्त्रों में आते हैं। ५. देवार्य-आवश्यक सूत्र में। ६. ज्ञातनन्दन ज्ञातपुत्र आचारांग तथा दशाश्रुत स्कन्ध मे। ये छः नाम इकट्ठे हेमचन्द्राचर्य कृत अभिधान चिंतामणि नाम माला में है।

२४–प्र०—भगवान् श्री महावीर स्वामी के बड़े भाई तथा उन की बहिन का क्या क्या नाम था।

उ०—इन के बड़े भाई का नाम नन्दिवर्धन और बहिन का नाम सुदर्शन था।

२५–प्र०—प्रभु श्री महावीर के ऊपर उन के माता पिता का अत्यन्त राग था या नहीं ?

उ०—श्री महावीर स्वामी पर उन के माता-पिता का अत्यन्त राग था। श्री कल्प सूत्र में वर्णन है कि जब प्रभु महावीर माता त्रिशला के गर्भ में थे उस समय उन्हों' ने ऐसा विचार किया था कि मेरे हलन-चलन से मेरी माता को दुःख होता है इस लिये मुझे हिलना चलना बन्द कर देना चाहिये ! ऐसा विचार कर उन्हों ने हलन चलन बन्द कर दिया। तब त्रिशला माता ने गर्भ के न चलने से मन में इस प्रकार विचार किया कि मेरा गर्भ चलता-हिलता नहीं है इस लिये गल गया है। तब त्रिशला माता ने खान, पान, स्नान, राग, रंग सब को छोड़ दिया और आर्त्त ध्यान (जिस से अपनी आत्मा को चिंता और दुःख हो ऐसा विचार) करना शुरु किया उस समय सारा

ही राज्य भवन शोकमग्न हो गया। राजा सिद्धार्थ भी शोकग्रस्त हो गया। जब महावीर जी ने अवधि ज्ञान द्वारा इस घटना को देखा तब विचार करने लगे कि गर्भ अवस्था में ही मेरे माता-पिता का मुझ पर बहुत अधिक स्नेह है तो जिस समय मैं इन के सामने दीक्षा लूंगा उस समय मेरे वियोग का उन्हें असह्य दुःख का अनुभव होगा। अवश्य मेरे वियोग से मर जावेंगे। तब श्री महावीर जी ने गर्भ में ही यह निश्चय किया कि माता-पिता के जीते हुए मैं दीक्षा ग्रहण नहीं करूंगा।

२६-प्र० श्री महावीर स्वामी का वर्धमान नाम क्यों पड़ा ?

उ० जिस समय श्री महावीर जी गर्भ में आये उसी समय से सिद्धार्थ राजा की सप्तांग राज्य लक्ष्मी वृद्धि को प्राप्त हुई। तब माता ने विचार किया कि हमारे राज्य में इन सब वस्तुओं की वृद्धि गर्भ के प्रभावसे हुई है इस लिये इस पुत्र का नाम वर्धमान रखेंगे। प्रभु के जन्म के पश्चात् अपनी सर्व ज्ञाति और वंश वालों के सन्मुख पुत्र का नाम वर्धमान रखा।

२७-प्र० इन का महावीर नाम किस ने रखा था ?

उ० परिषहों और उपसर्गों से इन को बहुत भारी और मरणान्त कष्ट हुए तो भी किंचित् मात्र अपने धैर्य तथा प्रतिज्ञा से विचलित न हुए, इस कारण से इन्द्र, शक्र और भक्त देवताओं ने इन का नाम श्री महावीर रखा। यह नाम बहुत प्रसिद्ध है।

२८-प्र० श्री महावीर की स्त्री का नाम क्या था तथा वह किस की बेटी थी ?

उ० श्री महावीर की स्त्री का नाम यशोदा था तथा सिद्धार्थ राजा के कौडिन्य गोत्र वाले सामंत समरवीर की पुत्री थी।

२६-प्र० श्री महावीर जी ने अपनी स्त्री यशोदा के साथ अन्य राज कुमारों की तरह महलों में भोग विलास किया था ?

उ० श्री महावीर जी के पास भोग विलास की सामग्री (महल-बागादि) सब थी। किंतु श्री महावीर जी तो जन्म से ही सांसारिक भोग विलासों से वैराग्यवान और निस्पृह रहते थे। यशोदा से विवाह किया सो भी माता-पिता के आग्रह से तथा किंचित् पूर्वजन्मोपार्जित निकाचित भोग्य कर्म को भोगने के लिये। नहीं तो उनकी भोग-भोगने में रति नहीं थी।

३०-प्र० श्री महावीर जी के कोई सन्तान हुइ थी ? यदि हुई थी तो उसका नाम क्या था ?

उ० एक पुत्री का जन्म हुआ था, उस का नाम प्रिय दर्शना था।

३१-प्र० श्री महावीर स्वामी अपने पिता के घर में प्रारंभ से त्यागी थे अथवा भोगी थे ?

उ० श्री महावीर जी गृहवास में २८ वर्ष तक भोगी रहे तत्पश्चात् इन के माता-पिता (जो कि तेईसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ जी के श्रावक-श्राविका थे) का स्वर्गवास हो गया। तब श्री महावीर जी ने अपने बड़े भाई नंदिवर्धन से दीक्षा लेने के लिये आज्ञा मांगी, उस समय नंदिवर्धन ने कहा कि अभी तो हमारे माता पिता का स्वर्गवास हुआ है और तुरंत ही तुम दीक्षा लेना चाहते हो, इस से मुझे बहुत भारी वियोग का दुःख होगा। अतः मेरे कहने से तुम दो वर्ष तक घर में रहो। तब महावीर जी दो वर्ष तक साधु की तरह त्यागी रहे।

३२-प्र० श्री महावीर जी की पुत्री का विवाह किस के साथ हुआ था ?

उ० क्षत्रियकुण्ड निवासी कौशिक गोत्रीय जमालि नामक क्षत्रिय कुमार के साथ विवाह हुआ था।

३३-प्र० श्री महावीर जी किस प्रयोजन से त्यागी हुए ?

उ० सर्व तीर्थंकरों का यही अनादि नियम है कि त्यागी हो कर केवलज्ञान की प्राप्ति करें तत्पश्चात् स्व-पर उपकार के लिये धर्मोपदेश देवें। तीर्थंकर अपने अवधिज्ञान द्वारा जान लेते हैं कि अब हमारे सांसारिक भोग्य कर्म क्षय हो गये (नहीं रहे) हैं तथा अमुक दिन हमें संसार गृहवास का त्याग करना है। उस दिन ही त्यागी हो जाते हैं। श्री महावीर स्वामी जी के लिये भी इसी प्रकार जान लेना।

३४-प्र० क्या परोपकार करना प्रत्येक मनुष्य को उचित है ?

उ० परोपकार करना सब मनुष्यों को उचित है। धर्मी पुरुषों को तो अवश्यमेव करना चाहिये।

३५-प्र० श्री महावीर जी ने किस वस्तु का त्याग किया था?

उ० सर्व सावद्य योग का अर्थात् १ जीव हिंसा, २ मृषा वाद (झूठ) ३ अदत्तादान (चोरी), ४. मैथुन (स्त्री आदि का प्रसंग), ५. सर्व परिग्रह इत्यादि सब पाप कृत्यों के करने, करवाने तथा अनुमोदन का त्याग किया था।

३६-प्र० श्री महावीर स्वामी ने अनगारपणा कब लिया था, किस जगह में लिया था तथा कितने वर्ष की आयु में लिया था ?

उ० विक्रम संवत् से ५१२ वर्ष पूर्व (569 B.C.) मार्गशीर्ष वदि १० मी के दिन पिछले पहर मे उत्तरा फाल्गुणी नक्षत्र में, विजय मुहूर्त में, चन्द्रप्रभा शिविका में बैठ कर बड़े भारी जुलूस के साथ बड़े महोत्सव पूर्वक ज्ञातवनखंड में पधारे। उस

जुलूस में चार प्रकार के देवता अपने-अपने इन्द्रों के साथ तथा नन्दिवर्धन इत्यादि राजे हज़ारों मनुष्यों के साथ एवं नाना प्रकार के बाजे-गाजे इस महोत्सव का चार चांद लगा रहे थे। प्रभु ने ज्ञातवनखंड में पहुंचकर अशोक वृक्ष के नीचे तीस वर्ष की आयु पूर्ण होने पर दीक्षा ग्रहण की, सब प्रकार का बाह्य परिग्रह त्याग दिया, अपने हाथों से अपने मस्तकादि के केश लुंचन किये तथा अन्दर के क्रोध, मान, माया, लोभ (इन चार कषायों) का लुंचन किया।

३७-प्र० श्री महावीर स्वामी जी को दीक्षा लेने के बाद तुरंत ही किस वस्तु की प्राप्ति हुई थी ?

उ० चौथा मनःपर्यव ज्ञान उत्पन्न हुआ था।

३८-प्र० भगवान् को मनःपर्यव ज्ञान गृहस्थावस्था में क्यों नहीं हुआ ?

उ० मनः पर्यव ज्ञान निर्ग्रन्थ संयमी को ही होता है, अन्य को नहीं।

३९-प्र० ज्ञान कितने प्रकार के हैं ?

उ० ज्ञान पांच प्रकार के हैं।

४०-प्र० इन पांचों ज्ञानों के नाम क्या हैं ?

उ० १. मति ज्ञान, २. श्रुति ज्ञान, ३. अवधि ज्ञान, ४. मनःपर्यव ज्ञान, ५. केवल ज्ञान।

४१-प्र० इन पांचों ज्ञानों का किंचित् स्वरूप कहने की कृपा करें ?

उ० १. मति ज्ञान-(आभिनिबोधक ज्ञान) :—इंद्रिय और मन की सहायता से योग्य देश में रही हुई वस्तु को जानने वाला जो ज्ञान है उसे मति ज्ञान कहते हैं। इस के ३३६ भेद हैं

और चार प्रकार की बुद्धि इसी ज्ञान के अंदर आजाने से कुल ३४० भेद हैं।

२ श्रुति ज्ञान :–जो शब्द द्वारा कहने सुनने में आवे अर्थात् वाच्य-वाचक भाव सम्बंध द्वारा शब्द से सम्बद्ध अर्थ को ग्रहण कराने वाले इंद्रिय-मन कारणक ज्ञान को श्रुति ज्ञान कहते हैं।

अथवा–मतिज्ञान के अनंतर होने वाला, और शब्द तथा अर्थ की पर्यालोचना जिस में हो ऐसा ज्ञान श्रुति ज्ञान कहलाता है। इस के १४ अथवा २० भेद हैं।

३-अवधिज्ञान :–इंद्रिय तथा मन की सहायता बिना, मर्यादा को लिये हुए रूपी द्रव्य का ज्ञान करना अवधिज्ञान कहलाता है। इस के ६ भेद है।

४-मनः पर्यव ज्ञान :–इंद्रिय और मन की सहायता के बिना मर्यादा को लिये हुऐ संज्ञी जीवों के मनोगत भावों को जानने वाला ज्ञान, मनः पर्यव ज्ञान कहलाता है। यह ज्ञान अढ़ाई द्वीप के अन्दर सब के मन चिंतित जानता है। इस के २ भेद हैं।

५-केवल ज्ञान :–मन और इन्द्रियों की सहायता के बिना (मति आदि ज्ञान की अपेक्षा बिना) भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान काल की वस्तु सूक्ष्म-बादर, रूपी-अरूपी, व्यवधान रहित-व्यवधान सहित, दूर-समीप, अन्दर-बाहिर, सब वस्तुओं को जाने और देखे। अर्थात् मन और इन्द्रियों की सहायता के बिना त्रिकाल एवं त्रिलोकवर्ती समस्त पदार्थों को युगपत् हस्तामलकवत् जानना केवल ज्ञान है। इस का कोई भी भेद नहीं है।

इन पांचों ज्ञानों का विशेष स्वरूप देखने की इच्छा हो

तो नन्दीसूत्र मलय गिरि वृत्ति से जान लेना चाहिये।

४२-प्र० श्री महावीर स्वामी अनगार हो कर जब चलने लगे थे उस समय इन के बड़े भाई राजा नन्दिवर्धन ने जो विलाप किया था उस का किंचित् वर्णन संस्कृत के श्लोकों में कहने की कृपा करें ?

उ० त्वया विना वीर ! कथं व्रजामो ?
गृहेऽधुना शून्यवनोपमाने।
गोष्ठं सुखं केन सहाचरामो ?
भोक्ष्यामहे केन सहाथ बंधो ॥१॥

अर्थ—हे वीर ! तुम्हारे बिना आज हमारा घर सूने वन के समान बन गया है, इस लिये ऐसे सूने घर में तुम्हें छोड़ कर हम कैसे जावेंगे ? (क्यों कि तेरे बिना राजमहलों में हमारा मन न लगेगा)। हे बांधव ! तुम्हारे बिना अपने सुख-दुःख की बातें (गोष्ठी) किस के साथ करेंगे ? तथा तुम्हारे बिना किस के साथ बैठ कर भोजन करेंगे ? (क्यों कि तुम्हारे बिना मेरा कोई अन्य भाई नहीं है)।

सर्वेषु कार्येषु च वीर वीरे-त्यामंत्रणाद्दर्शनतस्तवार्य !
प्रेमप्रकर्षादभजाम हर्ष, निराश्रयाश्चाथ कमाश्रयामः ? ॥२॥

अर्थ—हे आर्य ! सर्व कार्यों में तुमको हम वीर ! वीर ! कह कर बुलाते थे। तथा तुम को देख कर हमारे मन में बहुत प्रेम उमड़ आता था जिस से हम हर्ष का अनुभव करते थे। अब हम तुम्हारे बिना निराश्रय हो गये हैं सो अब किस का आश्रय प्राप्त करें अर्थात् तुम्हारे बिना हम किस को हे वीर ! हे वीर ! कहेंगे और किस को देख कर हर्षित होंगे ?

अतिप्रियं बांधव ! दर्शनं ते, सुधांजनं भावि कदास्मदक्ष्णोः।

नीरागचित्तोऽपि कदाचिदस्मान्, स्मरिष्यसि प्रौढगुणाभिराम ॥३॥

अर्थ :—हे बांधव ! तुम्हारे दर्शन हमें बहुत प्रिय हैं। सो तुम्हारे दर्शन रूप अमृतांजन हमारी आँखों में फिर कब पड़ेगा ? हे महागुणवान् वीर तुम तो निराग (राग रहित) चित्त वाले हो तो भी कदाचित् हम लोगों को याद करोगे ? इत्यादि विलाप किया था। (कल्पसूत्र सुबोधिका)

४३-प्र० श्री महावीर स्वामी दीक्षा लेकर जब प्रथम विहार करने लगे थे उस समय शक्रेन्द्र ने श्री महावीर स्वामी से क्या प्रार्थना की थी ?

उ०—शक्रेन्द्र ने कहा :- हे प्रभो ! आप के पूर्व जन्मों के बहुत असाता वेदनीय आदि निकाचित कर्मों के बंधन हैं; उन के प्रभाव से आप को छद्मस्थ अवस्था में बहुत भारी उपसर्ग आयेंगे, यदि आप आज्ञा दें तो मैं आप के साथ रह कर सब उपसर्गों का निवारण करूं ?

४४-प्र० प्रभु श्री महावीर स्वामी ने इन्द्र को क्या उत्तर दिया ?

उ० प्रभु ने कहा। हे इन्द्र ! यह बात न तो कभी अतीत काल में हुई है, न ही वर्त्तमान में है तथा न ही अनागत काल में होगी कि तीर्थंकर देवेन्द्रों असुरेन्द्रों आदि की सहायता से कर्मक्षय करके केवल ज्ञान उत्पन्न करें। किन्तु सर्व तीर्थंकर अपने-अपने पराक्रम से केवल ज्ञान प्राप्त करते हैं। इस लिये मैं भी दूसरों की सहायता के बिना अपने ही पराक्रम से ज्ञान प्राप्त करूंगा।

४५-प्र० क्या श्री महावीर स्वामी की सेवा में इन्द्रादि देवता रहते थे ?

उ० छद्मस्थावस्था में तो एक सिद्धार्थ नामक देवता इन्द्र की आज्ञा से प्रभु के मरणांत कष्टों को दूर करने के लिये सदा प्रभु के साथ रहता था तथा इन्द्रादि देवता किसी-किसी अवसर में प्रभु को वंदना करने, सुखसाता पूछने के लिये एवं प्रभु के उपसर्ग निवारण करने के लिये आते थे। केवलज्ञान होने के पश्चात् तो सदा ही प्रभु की सेवा में देवता लोग हाज़िर रहते थे।

४६-प्र० श्री महावीर स्वामी ने दीक्षा लेने के बाद क्या प्रतिज्ञा की थी ?

उ० १. जब तक मैं छद्मस्थ रहूँगा तब तक चाहे कोई भी परिषह अथवा उपसर्ग मुझे हो, उसे मैं सर्व प्रकार की दीनता रहित तथा दूसरे व्यक्ति की सहायता लिये बिना सहन करूंगा। २. जिस स्थान में रहने से उस के स्वामी को मेरे लिये अप्रीति उत्पन्न हो, वहां नहीं रहूँगा। ३. सदा ही कायोत्सर्ग मुद्रा (खड़े हो कर दोनों भुजाएं शरीर से स्पर्श न करती हुई नीचे को लटका कर, पगों में चार अंगुल का अन्तर रखकर, मस्तक को नीचे झुका कर, एक किसी अजीव वस्तु पर दृष्टि लगा कर ध्यानस्थ अवस्था) में रहूंगा। ४. गृहस्थ का विनय नहीं करूंगा। ५. मौन धारण करके रहूंगा। ६ हाथ में ही ग्रहण कर भोजन करूंगा, पात्र में नहीं। ये अभिग्रह (नियम-प्रतिज्ञा) धारण किये थे।

४७-प्र० प्रभु श्री महावीर स्वामी ने छद्मस्थावस्था में कैसे-कैसे परिषह और उपसर्ग सहन किये थे? उन का संक्षेप में वर्णन करो।

उ० १. प्रथम उपसर्ग गवाले ने किया। २. शूलपाणि

यक्ष के मंदिर में रहे, तब शूलपाणि यक्ष ने अनेक उपसर्ग किये। जैसे कि :—अदृष्ट अट्टहास करके डराया, हाथी का रूप करके उपसर्ग किया, सर्प का रूप बना कर उपसर्ग किया, पिशाच के रूप से उपसर्ग किया, मस्तक में-कान में-नाक में-नेत्रों में-दांतों में-पीठ में-नखों में-सुकोमल अंगों में ऐसी वेदना की कि यदि कोई सामान्य पुरुष होता और उस के एक अङ्ग में भी ऐसी पीड़ा होती तो उसकी तत्काल मृत्यु हो जाती, किन्तु प्रभु ने मेरु के समान निश्चल रहते हुए अदान मन से सब कुछ सहन किया। अन्त में यक्ष थक कर प्रभु श्री महावीर स्वामी का सेवक बन गया और शांत हुआ ३. चंडकौशिक सर्प ने डंक मारा परन्तु प्रभु ने शांत चित्त से सहन करते हुए अपनी दयापूर्ण दृष्टि से उस सर्प को भी प्रतिबोध देकर शांत किया। ४ सुदंष्ट्र नागकुमार देवता का उपसर्ग संबल-कंबल देवताओं ने निवारण किया। ५. प्रभु वन में कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े थे, लोगों ने वन में आग जलाई और वहां से अन्यत्र चले गये, अग्नि सूखे घासादि को जलाती हुई प्रभु के पैरों नीचे आगई जिस से प्रभु के पैर जलने लगे किंतु प्रभु ने अपना कायोत्सर्ग नहीं छोड़ा और वैसे ही ध्यान मग्न खड़े रहे। ६. कटपूतना देवी ने माघ मास के दिनों में सारी रात भगवान् के शरीर पर अत्यन्त शीतल जल छांटा, प्रभु तो विचलित नहीं हुए। अन्त में देवी ने ही हार मानी और थक कर प्रभु की स्तुति करने लगी। ७. संगम देवता ने एक रात्रि में प्रभु को बीस उपसर्ग किये, जो इस प्रकार हैं :—प्रभु[१] पर धूली की वर्षा की जिस से प्रभु के आंख, नाक, कानादि के स्रोत बन्द होने से प्रभु का श्वासोच्छ्वास रुक गया तो भी प्रभु अपने ध्यान से विचलित नहीं हुए। वज्र[२]मुखी चींटियां बना कर प्रभु को, प्रभु के शरीर को

छलनी के समान छेदन किया। वज्रचौंच वाले दंश बनाकर प्रभु को बहुत पीड़ा[3] दी। तीक्ष्ण चोंच वाली दीमक (धीमेल) बना कर खाया[4]। बिच्छु[5], सर्प[6], नकुल[7], चूहे[8], बन कर डंक मारे तथा मांस को नोचा और खाया। हाथी[9], हथनी[10] बन कर सूंड और दांतों से मारा, पैरों तले रोंदा तो भी प्रभु (वज्र ऋषभ नाराच संहनन वाले होने के कारण) नहीं मरे। पिशाच बन कर अट्टहास करके डराया[11]। सिंह बन कर नख और दाढ़ाओं से चीराफाड़ा[12]। सिद्धार्थ और त्रिशला का रूप करके पुत्र को स्नेह दिखलाते हुए विलाप किया[13]। स्कंधावार के लोग बनाकर प्रभु के पैरों में आग जला कर उन के पैरों पर हांडी रांधी[14]। चंडाल का रूप बनाकर पक्षियों के पिंजरे प्रभु के कान, बाहु आदि साथ लटका कर पक्षियों से शरीर नुचवाया[15]। भयंकर आंधी से प्रभु को गेंद की तरह वार-बार उछाला और धरती पर पटका[16]। उत्कलिका पवन चला कर प्रभु को चक्र के समान घुमाया[17]। चक्र मार कर प्रभु को घुटनों तक भूमि में धसाया[18]। प्रभात का समय बना कर कहने लगा कि प्रभु विहार करो, परंतु प्रभु तो अवधिज्ञानी थे इस लिये जानते थे कि अभी तो रात[19] है। देवांगनाओं के रूप बना कर हाव-भाव; कटाक्षादि करके उपसर्ग[20] दिये। इन बीस प्रकार के उपसर्गों से प्रभु किंचित् मात्र भी चलायमान नहीं हुए, तब संगम देवता ने छः मास तक प्रभु के साथ-साथ रह कर उपसर्ग किये। अन्त में थक कर अपनी प्रतिज्ञा से भ्रष्ट हो कर चला गया। ८. अनार्य देश में प्रभु को बहुत परिषह और उपसर्ग हुए। ९. अन्त में प्रभु के दोनों कानों में गवालों ने कांस की कीलियां ठोंकीं, उन से बहुत पीड़ा हुई, मध्यम पावपुरी नगरी में खरक वैद्य द्वारा सिद्धार्थ नामक वैश्य ने कीलियों को प्रभु के कानों से निकलवाया,

प्रभु निरुपक्रम आयु वाले थे इस लिये ऐसे भयंकर तथा असह्य कष्ट प्रद उपसर्ग होने पर भी मरे नहीं। अन्य सामान्य मनुष्य का क्या सामर्थ्य है कि जो इतने उपसर्ग होने से न मरे। यदि इस वृत्तांत से अधिक देखने की इच्छा हो तो आवश्यक सूत्र से देख लें।

४८-प्र० श्री महावीर स्वामी को उपसर्ग होने का क्या कारण था ?

उ० प्रभु के जीव ने पूर्व जन्मों में राज्य किया था। उस समय जो-जो कर्म किये थे तथा अन्य भी जो जो कर्म बांधे थे, उन सब कर्मों के क्षय हुए बिना मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती थी। इस लिये इसी जन्म में सब निकाचित पाप कर्मों ने भी अपना फल देना था जिस के फल स्वरूप प्रभु को इतने भयंकर उपसर्गों को सहन करना पड़ा। इन उपसर्गों का बड़ी शांति और धैर्य से प्रभु ने सहन कर कर्मों के फल को भोग लिया जिस से उन के सब कर्म क्षय हो गये। उन निकाचित पाप कर्मों के कारण ही प्रभु को उपसर्ग हुए।

४९-प्र० श्री महावीर स्वामी ने परिषह क्यों सहन किये और तप क्यों किया ?

उ० यदि प्रभु परिषह सहन न करते तथा तप न करते तो पूर्वोपार्जित पाप कर्म क्षय न होते और न ही केवल ज्ञान तथा निर्वाण पद प्राप्त होते, इस लिये परिषह और उपसर्गों को सहन किया एवं तप भी किया।

५०-प्र० प्रभु महावीर स्वामी ने छद्मस्थावस्था में कितना तप किया तथा भोजन कितने दिन किया ?

उ० प्रभु श्री महावीर स्वामी ने छद्मस्थावस्था में १२ वर्ष ६ मास १५ दिनां में निम्नलिखित तप किया।

छः मासी १	छमासा में से पांच दिन न्यून १	चार मासी ६	तीन मासी २
ढाई मासी २	दो मासी ६	डेढ़ मासी २	एक मास १२
पंद्रह दिन ६२	भद्र प्रतिमा दिन २	महा भद्र ४	सर्वतो भद्र १०
छठ २२६	अट्ठम १२	सर्वपारणा ३४६	दीक्षा दिन १

सर्व काल तप और पारणा एक साथ किये।

५१-प्र० श्री महावीर प्रभु को दीक्षा लेने के कितने समय बाद केवल ज्ञान हुआ ?

उ० १२ वर्ष ६ मास १५ दिन के बाद केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ।

५२-प्र० प्रभु श्री महावीर स्वामी को केवल ज्ञान कैसी अवस्था में हुआ तथा किस जगह उत्पन्न हुआ ?

उ० प्रभु वैशाख शुदि १० के दिन पिछले (चौथे) पहर में जृंभिक गाम नगर के बाहिर ऋजुवालुका नदी के किनारे वैयावृत नामक देवता के मंदिर के पास श्यामाक नामक गृहपति के खेत में शाल वृक्ष के नीचे उत्कटिका आसन (गाय दोहन के

समय जिस प्रकार पगथलियों के भार बैठते हैं वैसे गोदोहन आसन) से बैठे हुए आतपना ले रहे थे। उस दिन दूसरा उपवास (छठ) भोजन-पानी रहित किया हुआ था। ध्यान-रूढ़ अवस्था में शुक्ल ध्यान के दूसरे पाद मे आरूढ़ होते ही केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ था।

५३-प्र० जब प्रभु को केवल ज्ञान उत्पन्न हो गया तब उन को कैसी अवस्था प्राप्त हो गयी ?

उ० प्रभु की अवस्था-सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अरिहंत जिन केवली रूप हो गयी थी।

५४-प्र० क्या प्रभु की प्रथम देशना (उपदेश) से किसी को लाभ हुआ था ?

उ० नहीं हुआ। सुनने वाले तो थे परन्तु किसी को उस देशना से गुण की प्राप्ति नहीं हुई।

५५-प्र० प्रथम देशना खाली गयी, इस घटना को जैन शास्त्र में क्या कहते हैं ?

उ० अछेरा भूत अर्थात् आश्चर्य भूत कहते हैं।

५६-प्र० अछेरा किसे कहते हैं ?

उ० जो वस्तु अनन्त काल के बाद आश्चर्यकारी हो उसे अछेरा कहते हैं। क्योंकि किसी भी तीर्थंकर की देशना निष्फल नहीं जाती किन्तु श्री महावीर प्रभु की देशना निष्फल गयी, इस लिये इसे अछेरा कहते हैं।

५७-प्र० प्रभु श्री महावीर स्वामी तो अपने केवल ज्ञान द्वारा जानते थे कि मेरी प्रथम देशना से किसी को भी किसी गुण की प्राप्ति नहीं होगी तो फिर उन्होंने देशना क्यों दी ?

उ० सब तीर्थंकरों का यह अनादि नियम है कि जब

केवल ज्ञान उत्पन्न हो तब अवश्य देशना दें। उस देशना से जीवों को अवश्यमेव गुण की प्राप्ति होती है। परन्तु प्रभु श्री वीर की प्रथम देशना से किसी को गुण की प्राप्ति न हुई, इसी लिये इसे अछेरा कहा है।

५८-प्र० श्री महावीर भगवान् ने दूसरी देशना किस जगह दी थी ?

उ० प्रभु को जिस स्थान पर केवल ज्ञान हुआ था उस स्थान से ४८ कोस की दूरी पर अपापा नामक नगरी थी, उससे ईशान कोन मे महासेन बन नाम का उद्यान था। उस वन में प्रभु महावीर स्वामी पधारे। वहां देवताओं ने समोसरण रचा। उस में बैठ कर प्रभु ने दूसरी देशना दी।

५९-प्र० दूसरी देशना सुनने के लिये वहां कौन-कौन आये थे ? उस में कौन सी महत्त्वपूर्ण घटना हुई ? किस-किस ने दीक्षा ग्रहण की ? भगवान् के कितने शिष्य साधु हुए ? और सब से बड़ी शिष्या-साध्वी कौन हुई ?

उ० चार प्रकार के देवता, चार प्रकार की देवियां, मनुष्य, मनुष्यनी इत्यादि धर्म देशना सुनने के लिये वहां पर आये थे।

भगवान् की देशना सुनकर बहुत नर नारी अपापा नगरी में आ कर कहने लगे कि आज हमारे महान् पुण्य का उदय है जो हमने सर्वज्ञ के दर्शन किये और उनकी देशना सुनी। हमने आज तक ऐसी सुन्दर रचना वाला सर्वज्ञ कभी नहीं देखा। यह बात नगर के कोने-कोने में फैल गयी। उस समय अपापा नगरी में सोमल नाम का ब्राह्मण यज्ञ कर रहा था। उस यज्ञ को कराने के लिये ब्राह्मणों के ग्यारह मुख्याचार्य बुलाये गये थे। उन के नाम

इस प्रकार थे :—१. इंद्रभूति, २. अग्नि भूति, ३, वायु भूति, ४ अव्यक्त, ५. सुधर्मा, ६. मंडिक पुत्र, ७. मौर्य पुत्र, ८. अकंपित, ९. अचल भ्राता, १०. मेतार्य, ११. प्रभास।

इन ग्यारह मुख्याचार्यों का विशेष परिचय इस प्रकार है :—

१. इंद्रभूति, २ अग्निभूति, ३. वायुभूति-ये तीनों सगे भाई थे, गौतम गोत्री थे, इनका जन्म मगध देश में गोर्बर ग्राम में हुआ था, इन के पिता का नाम वसुभूति तथा माता का नाम पृथ्वी था, तीनों भाइयों की आयु गृहवास में क्रमशः ५०-४६-४२ वर्ष की थी, तथा पांच-पांच सौ प्रत्येक भाई के विद्यार्थी थे जो चौदह विद्याओं के पारगामी थे।

४. अव्यक्त-इस का भारद्वाज गोत्र था, जन्म कोल्लाक सन्निवेश गांव में हुआ था, पिता का नाम धन मित्र तथा माता का वारुणी था, गृहवास में आयु ५० वर्ष की, पांच सौ विद्यार्थी चौदह विद्याओं के पारगामी थे।

५. सुधर्मा-इस का अग्निवैश्यायन गोत्र था, जन्म कोल्लाक सन्निवेश गांव में हुआ था, पिता का नाम धम्मिल तथा माता का नाम भद्दिला था, गृहवास में आयु पचास वर्ष, पांच सौ विद्यार्थी चौदह विद्याओं के पारगामी थे।

६ मंडिक पुत्र—इस का वाशिष्ठ गोत्र था, जन्म मौर्य सन्निवेश गांव में हुआ था, पिता का नाम धनदेव तथा माता का नाम विजय देवा था, गृहवास में आयु ६५ वर्ष, साढ़े तीन सौ विद्यार्थी चौदह विद्याओं के पारगामी थे।

७. मौर्य पुत्र—इस का काश्यप गोत्र था, जन्म मौर्य सन्निवेश गांव में हुआ था, पिता का नाम मौर्य तथा माता का नाम विजय देवा था, गृहवास में आयु ५३ वर्ष, साढ़े तीन सौ विद्यार्थी चौदह विद्याओं के पारगामी थे।

८. अकम्पित—इस का गौतम गोत्र था, जन्म मिथिला नगरी में हुआ था, पिता का नाम देव तथा माता का नाम जयंती था, गृहवास में ४८ वर्ष, तीन सौ विद्यार्थी चौदह विद्याओं के पारगामी थे।

९. अचल भ्राता—इस का हारित गोत्र था, जन्म कोशला नगरी में हुआ था, पिता का नाम वसु था तथा माता का नाम नन्दा था, गृहवास में आयु ४६ वर्ष, तीन सौ विद्यार्थी चौदह विद्याओं के पारगामी थे।

१०. मेतार्य—इस का कौडिन्य गोत्र था, जन्म कौशल-वत्स भूमि में हुआ था. पिता का नाम दत्त तथा माता का नाम वरुण देवा था, गृहवास में ३६ वर्ष, तीन सौ विद्यार्थी चौदह विद्याओं के पारगामी थे।

११. प्रभास—इस का गोत्र कौडिन्य था, जन्म राजगृह नगरी में हुआ था, पिता का नाम बल तथा माता का नाम अति भद्रा था, गृहवास में सोलह वर्ष, तीन सौ विद्यार्थी चौदह विद्याओं के पारगामी थे।

इस उपर्युक्त स्वरूप वाले ग्यारह मुख्य ब्राह्मण यज्ञ पाड़े में बड़ी धूम-धाम से यज्ञ करवा रहे थे। जब उन के कानों में भगवान् महावीर स्वामी के विषय में सर्वज्ञ की महिमा के शब्द पड़े, उस समय इन्द्रभूति गौतम अभिमान से सर्वज्ञ का मान भंग करने के लिये प्रभु के पास आया, उनको देख कर आश्चर्य चकित हो गया। तब प्रभु ने कहा :—"हे इन्द्रभूति गौतम तुम आये हो?" तब गौतम मन में सोचने लगा कि मात्र मेरा नाम जान लेने से मैं इसे सर्वज्ञ नहीं मानता। यदि मेरे हृदय गत संशय को स्वयं जान कर दूर कर दे तो मैं इसे अवश्य सर्वज्ञ मान लूंगा।" तब प्रभु ने उनके वेद पद आदि और युक्ति से

संशय को दूर किया। तब अपने पांच सौ शिष्यों सहित इंद्रभूति गौतम प्रभु से दीक्षा ग्रहण कर उन का शिष्य हो गया। इसी प्रकार ग्यारह मुख्य ब्राह्मणों के मन के संशय दूर किये और उन सब ने अपने शिष्यों सहित प्रभु से दीक्षा ले ली और प्रभु के शिष्य बन गये। इस प्रकार ग्यारह मुख्य ब्राह्मण अपने ४४०० शिष्यों सहित प्रभु के शिष्य हो गये। तथा प्रभु ने इन ग्यारह को मुख्य शिष्य-गणधर रूप से स्थापन किया। इन ग्यारह मुख्य ब्राह्मणों के मन में जो-जो शंका थी उनका उल्लेख नीचे करते हैं :—

पहले को—जीव है या नहीं? दूसरे को—कर्म है या नहीं? तीसरे को—जो शरीर है वही जीव है अथवा शरीर और जीव भिन्न-भिन्न हैं? चौथे को—पांच भूत हैं अथवा नहीं? पांचवें को—जैसा इस जन्म में जीव है अगले जन्म में भी वैसा ही होगा या अन्य होगा? छठे को—मोक्ष है या नहीं? सातवें को—देवता हैं या नहीं? आठवें को—नारकी हैं या नहीं? नवमे को—पुण्य है या नहीं? दसवें को—परलोक है या नहीं? ग्यारहवें को - मोक्ष उपाय है या नहीं?

(इन शंकाओं को दूर करने का पूर्ण वृत्तांत विशेषावश्यक सूत्र में है)

-उसी दिन चम्पानगरी के राजा दधिवाहन की पुत्री कुमारी-ब्रह्मचारिणी चन्दनबाला ने प्रभु से दीक्षा ली और वह बड़ी शिष्या हुई। इन के साथ अन्य अनेक स्त्रियों ने भी दीक्षा ली। दूसरी देशना का वृत्तांत इस प्रकार है।

६०-प्र० गणधर किस को कहते हैं?

उ० जिस जीव ने पूर्व जन्म में शुभ करणी करके पुण्योपार्जन किया हो वह जीव मनुष्य जन्म पाकर तीर्थंकर के साथ दीक्षा लेता है अथवा तीर्थंकर अर्हन्त को जब केवल ज्ञान होता है

तब वह जीव उन के पास दीक्षा ग्रहण करता है और मुख्य शिष्य होता है। वह तीर्थंकर के मुख से त्रिपदी सुन कर गणधर लब्धि से चौदह पूर्वों की रचना करता है और चार ज्ञान का धारक होता है। उस को तीर्थंकर भगवान् गणधर पद से विभूषित करते हैं। वह गणधर साधु के समूह रूप गण को धारण करता है। गणधर=गण+धर अर्थात् गण को धारण करने वाला। इस लिये इन्हें गणधर कहते हैं।

६१-प्र० श्री महावीर भगवान् के कितने गणधर थे ?

उ० ग्यारह गणधर थे। उन के नाम हम प्रश्न नं० ५७ के उत्तर में लिख आये हैं।

६२-प्र० संघ किस को कहते हैं ?

उ० १. साधु, २. साध्वी, ३. श्रावक. ४. श्राविका, इन चारों को संघ कहते हैं।

६३-प्र० श्री महावीर भगवान् के संघ में मुख्य नाम किन-किन को था ?

उ० १. साधुओं में—इन्द्रभूति गौतम स्वामी नाम प्रसिद्ध; साध्वियों में चम्पानगरी के राजा दधिवाहन की पुत्री साध्वी चन्दन बाला, श्रावकों में श्रावस्ति नगरी में बसने वाले १. संख, २. शतक, श्राविकाओं में, १. सुलसा, २. रेवती, सुलसा सारथी नाग की भार्या थी जो कि राजगृह के राजा प्रसेनजित का सारथी था, तथा रेवती मेंढिक ग्राम की रहने वाली धनाढ्य गृहपत्नी थी।

६४-प्र० श्री महावीर स्वामी ने किस तरह का धर्म प्ररूपित (प्रतिपादित) किया था ?

उ० सम्यक्त्व पूर्वक साधु धर्म और श्रावक धर्म को

प्ररूपित किया था।

६५-प्र० सम्यक्त्व पूर्वक किसे कहते हैं ?

उ० सर्वज्ञ भगवान् द्वारा कथित पारमार्थिक जीवादिक पदार्थों का सत्य करके श्रद्धान करना, उसे सम्यक्त्व कहते हैं। सो कथन यह है : -

१. लोक भी है, २. अलोक भी है, ३. जीव भी है, ४ अजीव भी है, ५. कर्म का बंध भी है, ६. कर्म का मोक्ष भी है, ७. पुण्य भी है, ८. पाप भी है, ९ आश्रव (कर्म का आना) भी जीव में है, १०. संवर (कर्म के आने को रोकना) भी है, ११. किये कर्मों का वेदना (भोगना) भी है, १२. कर्मों की निर्जरा (कर्म का अपना फल देकर खिर जाना) भी है, १३ अरिहंत भी है. १४ चक्रवर्ती भी है, १५. बलदेव-वासुदेव भी है, १६ नरक भी है, १७. नारकी भी है, १८ तिर्यंच भी है, १९. तिर्यंचनी भी है, २०. माता, पिता, ऋषि भी हैं, २१ देवता और देव लोक भी है, २२. सिद्ध स्थान भी है, २३. सिद्ध भी है, २४. परिनिर्वाण भी है, २५. परिनिवृत्ति भी है, २६. झूठ भी है, २७. चोरी भी है, २८. मैथुन भी है, २९ परिग्रह भी है, ३०. क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान, पैशुन, परनिन्दा, मायामृषा, मिथ्यादर्शन, शल्य येसब भी हैं। इन पूर्वोक्त जीव हिंसा से लेकर मिथ्यादर्शन तक अठारह पापों के प्रतिपक्षी अठारह प्रकार के त्याग भी हैं, ३१ सब अस्ति भाव को अस्तिरूप और नास्ति भाव को नास्ति रूप में भगवान् ने कहा है। ३२. अच्छे कर्मों का फल अच्छा होता है, बुरे कर्मों का फल बुरा होता है। ३३. पाप और पुण्य दोनों संसारावस्था में जीव के साथ रहते हैं। ३४. ये जो

निर्ग्रंथों के वचन हैं वे अति उत्तम देव लोक और मोक्ष के देने वाले ह।

चार काम करने वाला जीव मर के नरक में जाता है :—

१. महारम्भ—बहुत प्राणियों की हिंसा हो इस प्रकार तीव्र परिणामों से कषाय पूर्वक प्रवृत्ति करने वाला। खेती-बाड़ी, सर-सरोवर आदि का पानी सुखाने से महा जीवों का वध करने वाला।

२. महा परिग्रह-वस्तुओं पर अत्यन्त मूर्छा (तृष्णा) वाला।

३. पंचेन्द्रिय जीव का वध-पंचेद्रिय जीवों की हिंसा करने वाला।

४. मांसाहार—मांस खाने वाला।

चार काम करने वाला मर कर तिर्यंच में जाता है :—

१. माया—कुटिल परिणामों वाला-जिस के मन में कुछ हो बाहर कुछ हो अर्थात् कपट से दूसरे के साथ ठगी करे।

२. अपने किये हुए कपट को ढांकने के लिये झूठ बोले अथवा ढोंग करके दूसरों को ठगने की चेष्टा करे।

३. कम ताल देवे, अधिक तोल लेवे।

४. गुणवान् के गुणों को जानते हुए भी ईर्षावश उस की निन्दा करे।

चार काम करने वाला मर कर मनुष्यगति में उत्पन्न होता है।

१. भद्र प्रकृति वाला अर्थात् कुटिलता रहित हो और सरल स्वाभावी हो।

२. स्वभाव से ही विनयवान् हो।

३. दया और अनुकम्पा के परिणामों वाला हो।

४. गुणवान् के गुणों को सुन-देख कर द्वेष न करे अर्थात् मत्सर (ईर्षा-डाह) न करने वाला।

चार काम करने वाला मर कर देवगति में उत्पन्न होता है।

१. सराग संयम वाला अर्थात् सरागी साधु धर्म का पालन करने वाला।

२. देशविरति वाला—अर्थात् श्रावक धर्म का पालन करने वाला।

३. अज्ञान तप—विवेक के बिना अज्ञान पूर्वक काया क्लेश आदि तप करने वाला।

४. अकाम निर्जरा—अर्थात् अनिच्छा पूर्वक पराधीनता आदि कारणों से कर्मों की निर्जरा करने वाला।

इस लिये हे भव्य जीवो! प्राणी नरक और तिर्यंच गति में दारुण वेदना और यातनाएं भोगता है। मनुष्यपणा भी अनित्य है। व्याधि, जरा, मरण, वेदना आदि से युक्त है। इस लिये मनुष्य जन्म पा कर धर्म करने में उद्यम करो। यद्यपि देव लोक में देवताओं को मनुष्य से अधिक सुख है तथापि अन्त में वह भी अनित्य है। जीव नाना प्रकार के कर्मों का बन्ध भी करता है और कर्मों से छुटकारा पाकर निर्वाण भी प्राप्त कर सकता है। फिर साधु के धर्म और श्रावक के धर्म का प्रभु ने स्वरूप बतलाया। इत्यादि धर्म देशना भगवान् श्री महावीर प्रभु ने सब प्रकार के मनुष्य आदि को दी थी।

६६-प्र० साधु के धर्म का क्या स्वरूप है?

उ० पांच महाव्रत और रात्रि भोजन का त्याग ये छः वस्तु धारण करे, इस प्रकार का यति धर्म और सतरह भेदी

संयम पालन करे, ४२ दोष रहित भिक्षा ग्रहण करें तथा दस विधि चक्रवाल समाचारी पाले।

६७-प्र० श्रावक धर्म का स्वरूप क्या है ?

उ० १. त्रस जीव की हिंसा का त्याग, २. बड़े झूठ का त्याग, अर्थात् जिस के बोलने से राज्ञ से दंड हो और जगत् में झूठ बोलने वाला प्रसिद्ध हो ऐसे कामों का त्याग करे, ३. ऐसे ही बड़ी चोरी का त्याग, ४ परस्त्री का त्याग, ५. परिग्रह का परिमाण, ६. छहों दिशाओं में जाने का परिमाण करे, ७. भोग (एक बार काम में आने वाली वस्तु) परिभोग (बार बार काम में आने वाली वस्तु) का परिमाण करे, बाईस अभक्ष्य (न खाने योग्य वस्तुओं) का और ३२ अनन्त काय का त्याग करे तथा १५ बुरे वाणिज्य व्यापार करने का त्याग करे, ८ बिना प्रयोजन पाप न करे, ९. सामायिक करे, १० देशावकाशिक करे, ११ पौषध करे, १२. दान देवे, त्रिकाल देव पूजन करे।

६८-प्र० साधु-श्रावक का धर्म मनुष्यों को किस लिये करना चाहिये ?

उ० जन्म मरणादि संसार भ्रमण रूप दुःख से छूटने के लिये साधु और श्रावक धर्म का पालन करना चाहिये।

६९-प्र० श्री महावीर भगवान् ने जो देशना दी थी अर्थात् धर्मकथन किया था उसे भगवान् ने स्वयमेव अपने हाथों से किसी पुस्तक में लिखा था या नहीं ?

उ० नहीं लिखा था।

७०-प्र० क्या भगवान् महावीर ने जो धर्म देशना दी थी वह सब उपदेश प्रभु के सामने ही किसी ने लिखा था या नहीं ?

उ० दूसरे किसी पुरुष ने सत्र नहीं लिखा था।

७१-प्र० क्या उस समय लोग लिखना नहीं जानते थे इस लिये नहीं लिखा अथवा और कोई कारण था ?

उ० लिखना तो जानते थे परन्तु सारा ज्ञान लिखने की शक्ति किसी भी पुरुष में नहीं थी। क्योंकि प्रभु ने अपने केवल ज्ञान द्वारा जितना देखा था उस से अनन्तवें भाग का स्वरूप उन्होंने अपने वचन द्वारा कहा था। जितना कथन किया था उस से अनन्तवां भाग परिमाण गणधरों ने द्वादशांग (बारह अंग) सूत्र में ग्रंथन किया था। उन बारह अङ्गों का ज्ञान भी कितना महान् था उस का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि यदि बारहवें अङ्ग (दृष्टि वाद) के तीसरे पूर्व (एक अध्ययन) को लिखा जावे तो १६३८३ (सोलह हजार तीन सौ त्रयासी) हाथियों जितने स्याही के ढेर लिखने में लग जावें तो फिर सम्पूर्ण द्वादशांग को लिखने की किस में शक्ति हो सकती है ? तथा जब तीर्थंकर गणधरादि चौदह पूर्वधारी विद्यमान थे उन के समय में लिखने का कुछ भी प्रयोजन नहीं था क्योंकि वे सब स्वयं इस ज्ञान को सम्पूर्ण रूप से जानते थे। तथापि यदि देशमात्र ज्ञान किसी साधु-श्रावक ने अपने पठन-पाठन के लिये प्रकरण रूप लिख भी लिया हो तो निषेध नहीं।

७२-प्र० पूर्वोक्त जैन मत (दर्शन) के सब शास्त्र श्री भगवान् महावीर से तथा विक्रम संवत् की शुरुआत से कितने वर्ष पीछे लिखे गये हैं ?

उ० भगवान् श्री महावीर स्वामी से ९८० (नव सौ अस्सी) वर्ष बाद तथा विक्रम संवत् ५१० में लिखे गये थे।

७३-प्र० इन शास्त्रों को कंठस्थ रखने तथा लिखने में

क्या व्यवस्था बनी थी एवं ये शास्त्र किस स्थान पर किस ने किस रीति से कितनी संख्या में लिखे थे ?

उ० प्रभु श्री महावीर जी के बाद १७० वर्ष तक श्री भद्र बाहु स्वामी तक द्वादशांग (चौदह पूर्व और ग्यारह अंग) जैसे पांचवें गणधर श्री सुधर्मा स्वामी ने पाठ ग्रंथन किये थे वसे ही विद्यमान थे। भद्रबाहु स्वामी के समय में भारत देश में बारह वर्षी दुष्काल पड़ने के कारण श्री भद्रबाहुस्वामी नेपाल देश में चले गये थे और उन्होंने बारह चौमासे नेपाल-देश में ही किये। उस समय दुष्काल के कारण भारत वर्ष में साधुओं को भिक्षा न मिलने से इस देश में साधुओं को कंठस्थ शास्त्र बीच बीच से अनेक स्थानों से विस्मृत हो गये। जब बारह वर्ष का अकाल दूर होगया तब सब आचार्य और मुनि मंडल पाटलीपुत्र (पटना) नगर में एकत्रित हुए। सब शास्त्रों के पाठों का आपस में मिलान किया गया तब ग्यारह अङ्ग तो सम्पूर्ण हो गये किन्तु चौदह पूर्व सब साधु सर्वथा भूल गये। तब श्री संघ की आज्ञा से श्री स्थूलिभद्रादि ५०० तीक्ष्ण बुद्धि वाले साधु नेपाल देश में श्री भद्रबाहुस्वामी के पास चौदह पूर्व का अभ्यास करने के लिये गये। परन्तु मात्र श्री स्थूलिभद्र ने ही दो वस्तु न्यून दशपूर्व के पाठ तो अर्थ सहित सीखे, बाकी चार पूर्व केवल पाठ मात्र ही सीखे, उनका अर्थ नहीं सीखा। श्री भद्रबाहु के पाट पर श्री स्थूलिभद्र स्वामी बैठे, उनके शिष्य आर्य महागिरि सुहस्ति से लेकर श्री वज्र स्वामी तक (जो वज्र स्वामी श्री महावीर स ५८४ वर्ष बाद विक्रम संवत् ११४ में स्वर्ग वासी हुए थे) सब आचार्य दस पूर्व और ग्यारह अङ्ग के कंठाग्र ज्ञान वाले रहे। उन आचार्यों के नाम इस प्रकार हैं :—

१. आर्य महागिरि, २. आर्य सुहस्ति, ३. श्री गुणसुन्दर

सूरि, ४. श्यामाचार्य, ५. स्कंधिलाचार्य, ६. रेवती मित्र, ७. श्री धर्म सूरि, ८. श्री भद्रगुप्त, ९. श्री गुप्त, १०. वज्र स्वामी। श्री वज्र स्वामी के निकटवर्ती तोसली पुत्र आचार्य के शिष्य श्री आर्य रक्षित सूरि ने साढ़े नव पूर्व का पाठ अर्थ सहित पढ़ा। यहां तक सर्व सूत्रों के पाठों पर से चारों ही अनुयोगों कि व्यख्या। जिस श्लोक में चरण करणानुयोग की व्याख्या जिन अक्षरों से करते थे उसी श्लोक के अक्षरों से द्रव्यानुयोग की व्याख्या, धर्मकथानुयोग की तथा गणितानुयोग की व्याख्या) करते थे। इस प्रकार अर्थ करने की रीति श्री सुधर्मा स्वामी से लेकर श्री आर्य रक्षित सूरि तक रही। तत्पश्चात् आर्य रक्षित सूरि के मुख्य शिष्य विंध्यदुर्बलिका पुष्पादि की बुद्धि जब चारों प्रकार के अर्थ को धारण करने के लिये असमर्थ हो गयी तब श्री आर्य रक्षित सूरि ने विचार किया कि जब इन नव पूर्व धारियों की बुद्धि भी चार प्रकार का अर्थ याद करने के लिये असमर्थ होने लगी है तो अन्य अल्प बुद्धि वाले शास्त्रों के अर्थों को कैसे याद रख सकेंगे। इस लिये तब से सब शास्त्रों के पाठों का अर्थ एक-एक अनुयोग की व्याख्या से शिष्य-प्रशिष्यों को पढ़ाया जाने लगा, शेष व्यवच्छेद होगयी। वही व्याख्या श्री जैन श्वेताम्बर धर्म में आचार्यों की अविच्छिन्न परम्परा से आज तक चली आती है। उस के बाद स्कन्धिलाचार्य श्री महावीर भगवान् के २४ वें पाट पर हुए हैं। नन्दिसूत्र की वृत्ति में श्री मलयगिरि आचार्य ने ऐसे लिखा है कि श्री स्कंधिलाचार्य के समय में फिर बारह वर्षीय दुष्काल पड़ा। उस में साधुओं को भिक्षा न मिलने के कारण नवीन पढ़ना और पिछला याद रखना बिल्कुल न हो सका। इस लिये उस समय जो चमत्कारी और अतिशयवंत शास्त्र थे वे नष्ट हो गये और

अङ्गोपांग भी पूर्ण रूप से याद नहीं रहे। जब बारह वर्षीय दुष्काल दूर हो गया और सुभिक्ष हुआ तब मथुरा नगरी में स्कंधिलाचार्य आदि श्रमणसंघ ने एकत्रित होकर (स्मरण परावर्त्तन के अभाव से) जो पाठ जितना-जिस साधु को जिस शास्त्र का कंठस्थ याद रहा था वह सब एकत्र करके कालिक श्रुत अङ्गादि तथा कितना ही जो किंचित् मात्र रह गया था सो पूर्वगत श्रुत जोड़ कर अङ्गादि का संकलन किया। इस लिये इसे माथुरी वाचना कहते हैं। कई आचार्यों का मत है कि बारह वर्षीय दुष्काल के कारण एक मात्र स्कंधिलाचार्य के सिवाय अन्य कोई भी गीतार्थ आचार्य नहीं रहा था। फिर भी सर्व शास्त्र भूले नहीं थे। उस समय जितना कंठ था वह सब संकलन कर लिया गया, शेष अल्प बुद्धि के प्रभाव से पहले ही भूल गया था। स्कंधिलाचार्य के बाद आठवें पाट (श्री महावीर भगवान् के २७वें पाट) पर देवर्द्धिगणि क्षमा श्रमण हुए। उनका वृत्तांत इस प्रकार जैन ग्रंथों में लिखा है।

सौराष्ट्र में वेलाकूलपत्तन में अरिदमन नाम का राजा था। उसका एक सेवक था। उसका नाम कामर्द्धि था और वह काश्यप गोत्रीय क्षत्रिय था। उसकी भार्या का नामकलावती था। उनके यहां एक पुत्ररत्न का जन्म हुआ। माता पिता ने उस का नाम देवर्द्धि रखा। उसने लोहित्य नामक आचार्य के पास दीक्षा ली तथा उसके गुरु को ग्यारह अङ्ग और पूर्वगत जितना ज्ञान कंठस्थ था उस सब का अभ्यास पूर्ण किया। तत्पश्चात् श्री पारश्वनाथ अरिहंत की पट्टावली में प्रदेशी राजा के प्रतिबोधक श्री केशी गणधर की पट्ट परम्परा में श्री देवगुप्त सूरि से प्रथम पूर्व अर्थ सहित पढ़ा और दूसरे पूर्व का मूल पाठ पढ़ते हुए श्री देवगुप्त सूरि का स्वर्गवास हो गया। देवर्द्धि को गुरु ने अपने

पट्ट पर स्थापन किया। एक गुरु ने गणि पद दिया, दूसरे ने क्षमाश्रमण पद दिया। तब देवर्द्धि गणि क्षमा श्रमण नाम प्रसिद्ध हुआ। उस समय जैन धर्म में पांच सौ आचार्य विद्यमान थे। उन सब में देवर्द्धि गणि क्षमा श्रमण युग प्रधान और मुख्याचार्य थे। एक समय श्री शत्रुंजय तीर्थ पर श्री वज्रस्वामी की प्रतिष्ठा हुई। तब देवर्द्धि गणि क्षमाश्रमण ने श्री ऋषभ देव की धातुमयी प्रतिमा को नमस्कार कर कपर्दि यक्ष की आराधना की। तब कपर्दि यक्ष प्रगट हो कर कहने लगा कि हे भगवन्! मुझे आप ने क्यां स्मरण किया है?" तब देवर्द्धि गणि क्षमाश्रमण ने कहा कि:—"जिन शासन का एक काम है, सो यह है कि बारह वर्षीय दुष्काल के बाद श्री स्कंधिलाचार्य ने माथुरी वाचना की थी, काल के प्रभाव से साधुओं की मंदबुद्धि के होने से वे शास्त्रों को कंठ से भूलते जा रहे हैं और कालांत में सर्व भूल जायेंगे! इस लिये तुम मेरी सहायता करो जिससे मैं सब शास्त्रों को ताड़पत्रों पर लिख सकूं जिस से जैन शास्त्रों की रक्षा हो। ऐसा होने से मंदबुद्धि वाले भी शास्त्राध्ययन कर सकेंगे। तब देवता ने सान्निध्य करने का वचन दिया और कहा कि सर्व साधुओं को एकत्र करो, ताड़पत्रों और स्याही का संचय करो, लिखने वालों को बुलाओ, तथा साधारण द्रव्य श्रावकों से इकट्ठा कराओ। तब श्री देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने उपर्युक्त सर्व काम वल्लभी नगरी में कराया। पांच सौ आचार्यों और वृद्ध गीतार्थों ने सर्वांगोपांगादि के आलापक (जो-जो पाठ जिन्हें याद थे) साधु लेखकों ने लिखे। तत्पश्चात् देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने सर्वांगोपांगों के आलापक जोड़ तथा व्यवस्थित कर उन्हें पुस्तकों का रूप दिया, परस्पर सूत्रों की भुलावना (जैसे भगवती में जहा पन्नवणाए इत्यादि अति देश) कर सर्व शास्त्र अति

सावधानी पूर्वक शुद्ध रूप में लिखवाये। देवता के सान्निध्य से १.६ वर्ष में एक करोड़ (१०००००००) पुस्तक लिखवाये। आचारांग का महाप्रज्ञा अध्ययन किसी कारण से न लिखा जा सका। यह शास्त्र संकलना मन कल्पना से किंचिन्मात्र भी नहीं की गयी परन्तु देवर्द्धिगणि क्षमा श्रमण आदि सब आचार्यों और गीतार्थों ने चरमतीर्थपति भगवान् महावीर स्वामी से लेकर अविछिन्न रूप से चली आने वाली पट्ट परम्परा के आचार्यों द्वारा अपने शिष्यों प्रशिष्यों को जो आगम का अभ्यास कंठस्थ होता आया था उसी को पुस्तकारूढ़ किया गया। इस लिये ये सर्व अङ्गोपांग श्री महावीर प्रभु के मुख से निकली हुई दिव्यध्वनि की प्रतिलिपि ही है। इस कारण से जैन शास्त्र सर्व सत्य करके मानने चाहियें। इन शास्त्रों का यदि कोई कथन किसी की समझ में नहीं आता तो इस का कारण यह है कि यथार्थ गुरुगम की उसे प्राप्ति नहीं हुई। किन्तु गणधरों के कथन में तो किंचित् मात्र भी भूल नहीं है। यदि किसी आचार्य की भूल से कुछ अन्यथा लिखा भी गया हो तो उसे अतिशय ज्ञानी के विना कौन सुधार सकता है इस लिये "तहमेव सच्चं जं जिणेहिं पन्नत्तं" अर्थात् जो जिनेश्वर प्रभु ने फरमाया है वह सत्य ही है। इस पाठ के अनुयायी रहना चाहिये।

७४—प्र० जैन धर्म में जिस को सिद्धांत तथा आगम कहते हैं वे कौन-कौन से हैं ? तथा उनके मूल पाठ, निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका के कितने कितने बत्तीस (३२) अक्षर परिमाण श्लोक संख्या है ?

उ० वर्त्तमान काल में किसी रूढ़ि के कारण से पैंतालीस (४५) आगम कहे जाते हैं। उनके नाम और पंचांगी के श्लोकों

की संख्या आगे यंत्र में दी हैं, वहां से जान लें। तथा इन में विषय विधेय इस प्रकार है :—

॥ ११ (ग्यारह) अङ्ग ॥

१. आचारांग में मूल जैन धर्म का स्वरूप और साधु के आचार का कथन है।

२. सूयगडांग (सूत्र कृतांग) में तीन सौ त्रेसठ (३६३) मतों के स्वरूप का निराले ढंग से कथन है।

३. ठाणांग (स्थानांग) में एक से लेकर दस तक जो-जो वस्तुएं जगत् में हैं उन का कथन है।

४: समवायांग में एक से लेकर कोटा-कोटी तक के जो पदार्थ हैं उनका कथन है।

५. विवाह पण्णत्ति-भगवती (व्याख्या प्रज्ञप्ति) में प्रथम गणधर श्री इन्द्रभूति गौतम द्वारा पूछे गये ३६००० प्रश्नों के उत्तर हैं जो कि श्रमण भगवान् महावीर ने दिये थे।

६. ज्ञाता धर्म कथांग में धर्मी पुरुषों की कथाएं है।

७. उपासक दशांग में श्रमण भगवान् महावीर के आनन्द आदि दस मुख्य श्रावकों का स्वरूप कथन है।

८. अन्तगढ (अन्तकृतदशांग) में मोक्ष गये हुए नव्वे (९०) जीवों का कथन है।

९. अणुत्तरोववाइ (अनुत्तरोपपातिक) में पाँच अनुत्तर विमान में उत्पन्न होने वाले साधुओं का कथन है।

१०. प्रश्नव्याकरण में हिंसा, मृषावाद, चोरी, मैथुन तथा परिग्रह इन पाँच पापों का और अहिंसा, सत्य, अचौर्य ब्रह्मचर्य तथा परिग्रह त्याग इन पाचों संवरों का स्वरूप कथन है।

११. विपाक सूत्र में दस दुःख विपाकी और दस सुख विपाकी जीवों के स्वरूप का कथन है।

॥ १२ (बारह) उपांग ॥

१२ (१) उववाई (औपपातिक) में बाईस प्रकार के जीव काल करके जहां-जहां उत्पन्न होते हैं उनका कथन तथा कोणिक की वंदना विधि व श्रमण भगवान् महावीर की धर्म देशना आदि का कथन है।

१३. (२) रायपसेनी (राज प्रश्नीय) में नास्तिकमति प्रदेशी राजा के प्रतिबोधक केशी गणधर का तथा देवविमानादि का कथन है।

१४. (३) जीवाभिगम में जीव-अजीव के स्वरूप का विस्तार से वर्णन है।

१५. (४) पन्नवणा (प्रज्ञापना) में छत्तीस पदों में बत्तीस वस्तुओं का बड़े विस्तार से कथन है।

१६. (५) जंबुद्वीप पन्नत्ति (जम्बुद्वीप प्रज्ञप्ति) में जम्बुद्वीप आदि का कथन है।

१७. १८. (६, ७) चन्द्र प्रज्ञप्ति, सूर्य प्रज्ञप्ति में ज्योतिष चक्रके स्वरूप का कथन है।

१९ से २३. (८ से १२) निरयावलिका में कितनेक नरक-स्वर्ग में जाने वाले जीवों का तथा राजाओं की लड़ाई आदि का कथन है।

॥ ४ (चार) मूल सूत्र ॥

२४ (१) आवश्यक में चमत्कारी अति सूक्ष्म पदार्थ नय-निक्षेप-ज्ञान इतिहासादि का कथन है।

२५. (२) दशवैकालिक में साधु के आचार का कथन है।

२६. (३) पिंडनिर्युक्ति में साधु के शुद्धाहार आदि के स्वरूप का कथन है।

२७ (४) उत्तराध्ययन में छत्तीस अध्ययन हैं और इन में विविध विषयों का कथन है।

॥ ६ (छः) छेद सूत्र ॥

२८ से ३३. (१ से ६ छः छेद सूत्रों में पद, विभाग, समाचारी, प्रायश्चित्त आदि का कथन है।

॥ १. नन्दीसूत्र ॥

३४. (१) नन्दीसूत्र में पांच ज्ञान का कथन है।

३५. (१) अनुयोग द्वार में सामायिक पर चार अनुयोग द्वारों से व्याख्या की है।

॥ १० (दस) पइन्ना सूत्र ॥

३६. (१) चउशरणसूत्र में चार शरणों का अधिकार है।

३७. (२) अनुत्तरप्रत्याख्यान सूत्र में रोगी के प्रत्याख्यान की विधि है।

३८. (३) भक्त परिज्ञा सूत्र में अनशन करने की विधि है।

३९. (४) महा प्रत्याख्यान सूत्र में बड़े प्रत्याख्यान करने का स्वरूप कथन है।

४०. (५) तंदुलवेयाली सूत्र में गर्भादि का स्वरूप कथन है।

४१. (६) चन्द्रवेध्यक सूत्र में चन्द्रवेध्य का स्वरूप कथन है।

४२. (७) गणित विद्या सूत्र में ज्योतिष का कथन है।

४३. (८) मरण समाधि सूत्र में मरण के समय समाधि की रीति का कथन है।

४४. (९) देवेन्द्रस्तव सूत्र में इन्द्रों के स्वरूप का कथन है।

४५. (१०) गच्छाचार सूत्र में गच्छ का स्वरूप है। और संस्तार पइण्णे में संथारे की महिमा का कथन है।

इन पैंतालीस में जिस-जिस विषय का निरूपण है उस का यह अति संक्षिप्त विवरण दिया है। इन आगमों के अतिरिक्त और भी जैन धर्म के असंख्य शास्त्र प्रामाणिक हैं। विस्तार भय से उन का वर्णन नहीं किया गया। फिर भी संक्षेप से कुछेक का उल्लेख कर देते हैं:—जैसे कि उमास्वाति आचार्य के रचे हुए ५०० प्रकरण हैं। भगवान् महावीर स्वामी के शिष्य श्री धर्मदास गणि क्षमाश्रमण द्वारा रचित उपदेशमाला, तथा श्री भद्रबाहु सूरि के रचे हुए १४४४ शास्त्र इत्यादि अनेक पूर्वधरादि आचार्यों के प्रकृति शतकादि हज़ारों ही शास्त्र विद्यमान हैं। ये सब आगम तुल्य प्रामाणिक हैं।

राजा शिव प्रसाद ने अपने बनाये हुए इतिहास-तिमिर नाशक में लिखा है कि बुलरसाहब ने १५०००० (डेढ़ लाख) जैन शास्त्रों का पता लगाया है।

तथा मन में यह कुविल्प भी कभी नहीं करना चाहिये कि जो शास्त्र गणधरों के कथन किये हुए हैं वे तो सच्चे हैं, अन्य सच्चे नहीं है। क्योंकि सुधर्मा स्वामी ने जैसे अङ्ग रचे थे वैसे तो नहीं रहे हैं। वर्तमान काल में अङ्गादि सर्व शास्त्र स्कंधिलादि आचार्यों ने वांचना रूप सिद्धांत का संकलन किया है। इस लिये पूर्वोक्त (कुतर्क) आग्रह करना उचित नहीं है। सब प्रामाणिक आचार्यों के रचे हुए प्रकरण सत्य रूप मानने चाहियें, यही कल्याण का हेतु है।



११—अंग

सं०	सूत्र का नाम	मूल सूत्रों की संख्या	नियुक्ति	भाष्य	चूर्णि	टीका	कुल संख्या
१	आचारांग सूत्र	२५००	४५०	०	८३००	१२०००	२३२५०
२	सूयगडांग सूत्र	२१००	२५०	०	१००००	१२८५०	२५२००
३	ठाणांग सूत्र	३७७५	०	०	०	१५२५०	१९०२५
४	समवायांग सूत्र	१६६७	०	०	४००	३७७६	५८४३
५	भगवती सत्र	१५७५२	०	०	४०००	१८६१६	३८३६८

सं०	सूत्र का नाम	मूल सूत्रों की संख्या	निर्युक्ति	भाष्य	चूर्णि	टीका	कुल संख्या
६	ज्ञाता धर्म कथा सूत्र	६०००	०	०	०	४२५२	१०२५२
७	उपासकदशांग सूत्र	८१२	०	०	०		
८	अंतगढ सूत्र	७९०	०	०	०	१३००	३०९४
९	अनुत्तरोववाइ	१९२	०	०	०		
१०	प्रश्नव्याकरण-सूत्र	१२५०	०	०	०	४६००	५८५०
११	विपाक श्रुतांग सूत्र	१२१६	०	०	०	९००	२११६

१२—उपांग

सं०	सूत्र का नाम	मूल सूत्रों की नाम	निर्युक्ति	भाष्य	चूर्णि	टीका	कुल संख्या
1 12	उववाइ सूत्र	११६७	०	०	०	३१२५	४२९२
2 13	राज प्रशनीय सूत्र	२०७८	०	०	०	६०००	८०७८
3 14	जीवाभिगम सूत्र	४७००	०	०	१५००	१३००० टिप्पन ११००	२०३००
4 15	पन्नवणा सूत्र	७८००	०	०	०	लघु ३७२८ वृ० १४०००	२५५२८
5 16	जम्बूद्वीप पन्नत्ति सत्र	४१४६	०	०	१८६०	१६०००	२२००६

सं०	सूत्र का नाम	मूल सूत्रों की संख्या	निर्युक्ति	भाष्य	चूर्णि	टीका	कुल संख्या
6/17	चंद पन्नत्ति सूत्र	२२००	०	०	०	६११४	११३१४
7/18	सूर्य पन्नत्ति सूत्र	२२००	०	०	०	६०००	११२००
	निरावलिया सूय खंध सूत्र						
8/19	कप्पिया सूत्र	११०६	•			७००	१८०६
9/20	कप्पवडंसिया सूत्र						
10/21	पुप्फिया सूत्र						

सं०	सूत्र का नाम	मूल सूत्रों की संख्या	निर्युक्ति	भाष्य	चूर्णि	टीका	कुल संख्या
$\frac{11}{22}$	पुप्फ चूलिया सूत्र						
$\frac{12}{23}$	वन्हिदशांग सूत्र						

४—मूल सूत्र ।

सं०	सूत्र का नाम	मूल सूत्रों की संख्या	निर्युक्ति	भाष्य	चूर्णि	टीका	कुल संख्या
$\frac{1}{24}$	आवश्यक	१००	३१००	०	१८०००	२२००० टिप्पन ४६००	४७८००
	विशेषावश्यक	५०००	०	०	०	लघु १४००० वृहत् २८०००	४७०००

सं०	मूल सूत्र की संख्या	मूल सूत्र की संख्या	निर्युक्ति	भाष्य	चूर्णि	टीका	कुल संख्या
	पाक्षिक सूत्र	३००	०	०	४००	२७००	३४००
	ओघनिर्युक्ति	११७०	०	३०००	७००	७०००	११८७०
2 25	दशवैकालिक सूत्र	७००	४५०	०	७०००	लघु२५०० वृहत् ६८१०	१७६६०
3 26	पिंड निर्युक्ति	७००	०	०	०	लघु४००० वृहत् ७०००	११७००
4 27	उत्तराध्ययन सूत्र	२०००	५००	०	६०००	लघु १२००० वृहत १७६४५	३८१४५

६—छेद सूत्र ।

सं०	सूत्र का नाम	मूल सूत्र की संख्या	नियुक्ति	भाष्य	चूर्णि	टीका	कुलसंख्या
1 28	दशाश्रुत स्कंध सूत्र	१८३०	१६८	0	२२२५	0	४२२३
2 29	वृहत्कल्प सूत्र	४७३	0	लघु ८000 वृहत् १२000	१४000 विशेष ११000	४२000	८७४७३
3 30	व्यवहार सूत्र	६00	0	६000	१०३६१	३३६२५	५०५८६
4 31	पंच कल्पसूत्र	११३३	0	३१२५	३१३0	0	७३८८
[illegible]	जीत कल्पसूत्र	२०५	0	३१२४	१000 विशेष चूर्णि ११000	७000	२२३२६

सं०	सूत्र का नाम	मूल सूत्रों की संख्या	नियुक्ति	भाष्य	चूर्णि	टीका	कुलसंख्या
32	निशीथ सूत्र	८१५	०	लघु ७४०० वृहत् १२०००	२८०००	०	४८२१५
33	महानिशीथ	लघु वांचना ३५००		मध्यम वांचना ४२००		वृहद्वाचना ४५००	१२२००

१०—पइन्ना सूत्र ।

सं०	सूत्र का नाम	मूल सूत्रों की संख्या	नियुक्ति	भाष्य	चूर्णि	टीका	कुलसंख्या
34	चतुःशरण सूत्र	६४	०	०	०	०	६४
35	आतुरप्रत्याख्यान सूत्र	८४	०	०	०	०	८४

सं०	सूत्र का नाम	मूल सूत्रों की संख्या	नियुक्ति	भाष्य	चूर्णि	टीका	कुल संख्या
3 36	भक्त परिज्ञा सूत्र	१७१	०	०	०	०	१७१
4 37	महा प्रत्याख्यान सूत्र	१३४	०	०	०	०	१३४
5 38	तंदुलवयालिय सूत्र	४००	०	०	०	०	४००
6 39	चन्द्र वैध्यक सूत्र	१७६	०	०	०	०	१७६
7 40	गणिविद्या सूत्र	१००	०	०	०	०	१००
8 41	मरणसमाधि सूत्र	६५६	०	०	०	०	६५६

सं०	सूत्र का नाम	मूल सूत्रों की नाम	निर्युक्ति	भाष्य,	चूर्णि	टीका	कुल संख्या
9/13	देवेन्द्रस्तव सूत्र वीरस्तव सूत्र	२००	०	०	०	०	२००
10/13	गच्छाचार सूत्र	१३८	•	०	०	०	१३८
	संस्तारक सूत्र	१२२	०	०	०	०	१२२
	चूलिका सत्र	ऋषि भाषित ७००	ज्योतिष करंडक सूत्र १८५०	सिद्ध प्राभृत सूत्र १३३५	वसुदेव हिंडी प्रथम खण्ड ११०००	मध्यम खंड १६००० द्वीपसागर पन्नत्ति २५००	तीर्थोद्धार सूत्र १५०० अङ्ग विद्या ६००० ये भी ४५के अंतर्-भूत ही हैं

सं०	मूल सूत्र की संख्या	मूल सूत्र की संख्या	निर्युक्ति	भाष्य	चूर्णि	टीका	कुल संख्या
$\frac{1}{44}$	नन्दि सूत्र	७००	०	०	२००१	लघु २३१२ वृहत् ७७३५	१२७४८
$\frac{2}{45}$	अनुयोगद्वार सूत्र	१८९९	०	०	३०००	लघु ३५०० वृहत् ६५००	१४८९९

७५ प्रश्न—श्री देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण से पहले जैन धर्म के कोई शास्त्र लिखे हुए थे या नहीं।

उत्तर—देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण से पहले अंगोपांगादि शास्त्र लिखे हुए तो ज्ञात नहीं होते, किन्तु अन्य अनेक अतिशय-अद्भुत चमत्कारी विद्या के शास्त्र तथा अनेक आम्नाय के शास्त्र लिखे हुए ज्ञात होते हैं। क्योंकि राजा विक्रमादित्य के समय में जैनाचार्य श्री सिद्धसेन दिवाकर हो गये हैं। एक बार विहार करते हुए चित्रकूट (चित्तौड़) किले में पधारे तब उन्होंने वहां के एक जैन मंदिर में एक बहुत बड़ा पत्थर का स्तम्भ देखा जो कि अन्दर से पोला था और उसका ढकना किसी ऐसी वस्तु से पलस्तर किया हुआ था जिससे बाहर से स्तम्भ एक समान ठोस मालूम पड़ता था। आचार्य जी को किसी प्रकार से यह बात ज्ञात हो गयी। तब उन्होंने स्तम्भ के ढकने पर किसी औषधि का लेप करके उसे खोला। उस स्तम्भ में उन्हें प्राचीन पूर्वाचार्यों द्वारा रचित अनेक अतिशय-अद्भुत-चमत्कारी शास्त्रों का समूह मिला। आचार्य श्री ने एक शास्त्र निकाला। उसका एक पन्ना पढ़ा। उसमें दो विद्या लिखी थीं। एक स्वर्ण सिद्धि की और दूसरी परचक्र सैन्य निवरणी। इन दोनों विद्याओं के पढ़ने के पश्चात् जब आगे पढ़ने लगे तब उन विद्याओं के अधिष्ठाता देवता ने आचार्य श्री से कहा "आगे मत पढ़िये, आपके भाग्य में ये दो ही विद्याएँ हैं, अधिक नहीं।" तब आचार्य श्री ने उस स्तम्भ का मुंह पहले के समान बन्द कर दिया। जिस शास्त्र को उन्होंने निकाला था उसे उज्जयनी नगरी में उन्होंने श्री अवन्ति-पार्श्वनाथ जी के मंदिर में किसी गुप्त स्थान में सुरक्षित रूप से रख दिया। तत्पश्चात् वह शास्त्र श्री जिनदत्त सूरि जी महाराज

को (जो विक्रम सम्वत् १२०४ में विद्यमान थे) उस मंदिर में से मिला। वह शास्त्र इस समय जैसलमेर के श्री चिंतामणि पार्श्वनाथ जी के मंदिर में सुरक्षित है, ऐसा हम ने सुना है। चित्रकूट का वह स्तम्भ बाद में भूमि ग्रस्त हो गया, ऐसा हमें अनेक पट्टावली प्रमुख ग्रंथों में लिखा मिलता है। अतः श्री देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण से पहले भी अनेक शास्त्र लिखे हुए ज्ञात होते हैं।

७६ प्रश्न—भगवान् श्री महावीर के समय में कितने राजे उनके भक्त थे ?

उत्तर—अनेक राजे-महाराजे भगवान् श्रीमहावीर स्वामी के अनन्य भक्त थे जिनमें से कुछ राजाओं के नाम यहां लिखते हैं :—(१) राजगृह का राजा श्रेणिक जिसका दूसरा नाम बिम्बसार था। (२) चम्पा का राजा अशोकचन्द्र जिसका दूसरा नाम कौणिक प्रसिद्ध है, यह राजा बिम्बसार का पुत्र था। (३) वैशाली का राजा चेटक। ४ से २१—काशी देश के नव मल्लिक जाति के राजा तथा कौशल देश के नव लिच्छवी जाति के राजा। २२—पुलासपुर का राजा विजय। २३—असलकल्पा का राजा श्वेत। २४-वीतभय पट्टन का राजा उदयन। २५—कौशांबी का उदयनवत्स राजा। २६—क्षत्रियकुण्ड का नन्दिवर्धन राजा। २७—उज्जयन का चन्द्रप्रद्योत राजा। २८-२९—हिमालय पर्वत की उत्तर तरफ पृष्टचम्पा के शाल और महाशाल (दोनों भाई) राजे। ३०—पोतनपुर का प्रसन्नचन्द्र राजा। ३१—हस्तिशीर्ष नगर का अदिन शत्रु राजा। ३२—ऋषभपुर का धनावाह राजा ३३-वीरपुर का वीरकृष्ण मित्र राजा। ३४-विजयपुर का वासवदत्त राजा। ३५—सोगन्धिक नगर का अप्रतिहत राजा। (३६) कनकपुर का प्रियचन्द्र राजा। ३७—महापुर का बल राजा।

३८—सुघोष नगर का अर्जुन राजा। ३९—चम्पा का दत्तराजा। ४० —साकेतपुर का मित्रनन्दि राजा इत्यादि अनेक राजे महाराजे प्रभु श्री महावीर भगवान् के भक्त थे। इन सब राजाओं के नाम जैनधर्म के अंगोपांग शास्त्रों में लिखे हुए हैं।

७७ प्रश्न—ऊपर जो जो नाम आपने भगवान् महावीर के भक्त राजाओं के लिखे हैं, उन सब राजाओं को बौद्ध शास्त्रों में बौद्ध धर्मानुयायी लिखा है, इसका क्या कारण है ?

उत्तर—उपर्युक्त सब राजाओं को बौद्ध शास्त्रों ने बुद्ध के भक्त नहीं लिखा किन्तु कुछ राजाओं का नाम लिखा है। इस का कारण ऐसा ज्ञात होता है कि पहले शायद उन राजाओं ने बुद्ध का उपदेश सुनकर बुद्धधर्म को माना हो और बाद में श्री महावीर भगवान् का उपदेश सुनकर जैनधर्म को स्वीकार किया हो। क्योंकि भगवान् श्री महावीर से १३ वर्ष पहले गौतमबुद्ध की मृत्यु हुई अर्थात् गौतमबुद्ध की मृत्यु के बाद १६ वर्षों तक श्रमण भगवान् महावीर स्वामी केवल ज्ञान अवस्था में विचरे थे। उनके उपदेश से कई बौद्ध राजाओं ने जैन धर्म स्वीकार कर लिया था। इसलिये कई राजाओं का ना. दोनों के शास्त्रों में उन उनके धर्मानुयायी होने का उल्लेख पाया जाता है।

७८ प्रश्न—क्या श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से पहले इस भरतखण्ड में जैनधर्म नहीं था ?

उत्तर—श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से पहले बहुत प्राचीन काल से भरतखण्ड में जैनधर्म चला आता है; इसके अनेक प्रमाण पाये जाते हैं। जैसे कि :—(१) जिस समय गौतमबुद्ध ने बुद्ध होने की घोषणा की थी और अपना धर्म चलाया था, उस समय जैन धर्म के तेईसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ

भगवान् का शासन चल रहा था और उनकी शिष्य परम्परा में केशीकुमार नाम के आचार्य अपने ५०० शिष्य मंडल के साथ विद्यमान थे। उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :—

केशीकुमार उज्जयनी नगरी के राजा जयसेन और रानी अनंग सुन्दरी के पुत्र थे। इन्होंने विदेशी नामक आचार्य से अपनी कुमार-ब्रह्मचारी अवस्था में ही दीक्षा ग्रहण कर ली थी, इसलिए ये केशीकुमार कहे जाते थे। भगवान् पार्श्वनाथ के बड़े शिष्य श्री शुभदत्त गणधर के पट्टधर हरिदत्ताचार्य, उनके पट्टधर आर्य-समुद्र, और उनके पट्टधर केशीकुमार आचार्य थे।

इन्होंने श्वेताम्बिका नगरी के नास्तिक प्रदेशी राजा को प्रतिबोध देकर जैनधर्मी बनाया। एवँ श्रावस्ति नगरी में श्रमण भगवान् श्री महावीर प्रभु के बड़े शिष्य गणधर इन्द्रभूति गौतम से भी मिले थे। तब गौतम स्वामी के साथ प्रश्नोत्तर करके अपने शिष्यों के संशय दूर कराये थे और अपने पांच सौ शिष्यों सहित प्रभु महावीर के शासन को स्वीकार किया था।

(२) भगवान् पार्श्वनाथ की शिष्य परम्परा में से १-कालिक-पुत्र, २-मैथिलि, ३-आनन्द रक्षित, ४-काश्यप नाम के चार स्थविर पांच सौ साधुओं के साथ तुंगिया नगरी में आये, उस समय श्रमण भगवान् महावीर स्वामी इन्द्रभूति गौतमादि साधुओं के साथ राजगृह नगर में विराजमान थे।

(३) साकेतपुर के राजा चन्द्रपाल और रानी कैलाशवत्सा के पुत्र कैलाश-वैशिक ने भगवान् श्री पार्श्वनाथ के संतानिये (शिष्य परम्परा में) श्री स्वयंप्रभाचार्य के शिष्य वैकुण्ठाचार्य के पास दीक्षा ग्रहण की थी। तत्पश्चात् राजगृह नगर में श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के स्थविरों से चर्चा करके श्री महावीर स्वामी का शासन स्वीकार किया था।

(४) तथा श्री पार्श्वनाथ सन्तानिये गङ्गेय तथा उदकपेडाल-पुत्र मुनियों ने प्रभु श्री महावीर स्वामी का शासन अंगीकार किया था।

(५) इन उपर्युक्त आचार्यों और मुनियों के समय में वैशाली नगरी का राजा चेटकादि तथा क्षत्रियकुण्ड के ज्ञातवंशीय काश्यप गोत्री सिद्धार्थादि राजा श्रावक थे एवँ त्रिशलादि श्राविकाएं थीं।

(६) बौद्धधर्म के ग्रंथों में बुद्ध के समकालीन वैशाली नगरी के राजा को पाखंडधर्म (जैनधर्म) को मानने वाला लिखा है।

(७) बौद्धधर्म के ग्रंथों में गौतमबुद्ध के पास से अनेक जैन निर्ग्रंथों तथा निर्ग्रंथनियों को बौद्धधर्म के स्वीकार करने का वर्णन मिलता है (निर्ग्रंथ जैन साधु तथा निर्ग्रंथनी जैन साध्वी को कहते हैं) तथा बौद्धों के ग्रंथों में ऐसा भी वर्णन मिलता है कि एक बहुत बड़े पुरुष को जो जैनधर्मावलम्बी था, बुद्ध ने अपने उपदेश से बुद्धधर्मी बनाया।

इन उपर्युक्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि श्रमण भगवान् महावीर से पहले तेईसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ भगवान् के शासन से जैनधर्म विद्यमान था।

७६ प्रश्न—श्रमण भगवान् महावीर स्वामी से पहले तेईसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ भगवान् हुए हैं; इस का क्या प्रमाण है?

उत्तर—भगवान श्री पार्श्वनाथ जी से लेकर आज तक अक्षुण्ण रूप से श्री पार्श्वनाथ भगवान् की पट्ट परम्परा में ८३ आचार्य हुए हैं। उनमें से सब से पिछले सिद्धसूरि नाम के

आचार्य वर्त्तमानकाल में भी मारवाड़ में विद्यमान हैं। हमने अपनी आंखों से देखे हैं। जिसकी पट्टावली आज भी विद्यमान है। इस लिये भगवान् श्री पार्श्वनाथ के होने का यह प्रत्यक्ष तथा अनुमान प्रमाण पर्याप्त है।

८० प्रश्न—किसी धूर्त ने अपनी कल्पना से भगवान् श्री पार्श्वनाथ और उनकी पट्ट परम्परा लिख ली होगी ? इस लिये हमें श्री पार्श्वनाथ के होने का निश्चय नहीं होता।

उत्तर—जिन जिन आचार्यों के नाम भगवान् पार्श्वनाथ जी से लेकर आज तक उन की पट्ट परम्परा में लिखे हुए हैं उन में से अनेक आचार्यों ने जो जो काम किये हैं, वे आज भी प्रत्यक्ष देखने में आते हैं जैसे कि :—

(१) प्रभु पार्श्वनाथ जी के छठे पाट पर श्री रत्नप्रभ सूरि हो चुके हैं जिन्होंने भगवान् महावीर स्वामी के निर्वाण होने के ७० वर्ष बाद उपकेशपुर पट्टन (ओसिया) में भगवान् श्री महावीर स्वामी की मूर्ति की प्रतिष्ठा कराई थी, वह मंदिर तथा प्रतिमा आज भी उस नगर में विद्यमान है।

(२) एरिनपुरे की छावनी से लगभग छः कोस दूर कोरंट नामक नगर (जो इस समय उजाड़ पड़ा है और उस स्थान पर कोरटाँ नामक गांव बसा हुआ है) में भी श्री रत्नप्रभसूरि के हाथ की प्रतिष्ठा कराई हुई प्रभु महावीर स्वामी की प्रतिमा विद्यमान है।

(३) जैनधर्म को मानने वाली ओसवाल और श्रीमाल जातियां जो इस समय में भी विद्यमान हैं, इन्हें भी सर्व प्रथम श्री रत्नप्रभ सूरि ने ही उपकेशपुर पट्टन में स्थापित किया था।

(४) प्रभुपार्श्वनाथ के १७वें पाट पर श्री यक्षदेवसूरि

(वीर सम्वत् ५८५ में) हो चुके हैं जिन्होंने उस समय बारह वर्षीय दुष्काल के बाद (श्री वज्र स्वामी के शिष्य श्री वज्रसेन के स्वर्गवास होने के बाद) श्री वज्रसेन के चार मुख्य शिष्यों (जिन्हें वज्रसेन जी ने सोपारक पट्टन में दीक्षा दी थी) के नामों से चार शाखाएं तथा कुल स्थापन किये थे। जिनके नाम इस प्रकार हैं :- (१) नागेन्द्र, (२) चन्द्र, (३) निवृत्त, (४) विद्याधर (ये चारों कुल जैनधर्म में प्रसिद्ध हैं)।

इनमें से नागेन्द्र कुल में उदयप्रभ, मल्लिषेण सूरि प्रमुख आचार्य हो गये हैं। चन्द्रकुल में वड़गच्छ, तपगच्छ, खरतर-गच्छ, पूर्णवल्लीय गच्छ हुए तथा देवचन्द्र सूरि, महाराज कुमार-पाल प्रतिबोधक-कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्र सूरि प्रमुख आचार्य हो गये हैं जिन्हों ने सैंकड़ों संस्कृत-ग्रन्थों की रचना की जो आज भी जैन समाज के पास शास्त्र भंडारों में विद्यमान हैं। निवृत्तिकुल में शीलांकाचार्य, द्रोणसूरि प्रमुख आचार्य हुए हैं। विद्याधर कुल में १४४४ ग्रन्थों के कर्त्ता श्री हरिभद्रसूरि प्रमुख आचार्य हुए हैं जिनके रचित शास्त्र भी आज विद्यमान हैं। मैं स्वयं भी इस ग्रंथ को लिखने वाला चन्द्रकुल में हूं।

(५) प्रभु पार्श्वनाथ के पैंतीसवें पाट पर श्री देवगुप्त सूरि हुए हैं जिनके समकालीन श्री देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण नें इन से दो पूर्व पढ़े थे।

(६) प्रभु पार्श्वनाथ के ४३वें पाट पर श्री कक्कसूरि पंच प्रमाण ग्रन्थ के कर्ता हुए हैं, यह ग्रन्थ भी इस समय विद्यमान है।

(७) प्रभु पार्श्वनाथ के ४४वें पाट पर देवगुप्त सूरि (विक्रम सं० १०७२) नवपद प्रकरण के कर्त्ता हुए हैं, यह ग्रंथ भी आज विद्यमान है।

(८) श्रमण भगवान् महावीर स्वामी की परम्परा वाले अनेक आचार्यों ने अपने बनाये ग्रन्थों में इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया है कि जो उपकेशगच्छ है वह पट्ट परम्परा से तेईसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ से अविच्छिन्न रूप से चला आता है।

जब कि इन उपर्युक्त आचार्यों के हाथ से प्रतिष्ठा कराये हुए मंदिर, प्रतिमाएं तथा रचे हुए ग्रन्थ आज भी विद्यमान हैं तो फिर उनके होने में संशय को स्थान ही नहीं है। फिर भी जो पुरुप इनके होने में संशय करता है वह ऐसा ही है जैसे कोई अपने पिता, पितामह, प्रपितामह आदि वंश परम्परा में भी संदेह करता है। यथा क्या पता कि मेरी सातवीं पीढ़ी का पुरुष आगे हुआ है या नहीं? यदि इस प्रकार का संदेह कोई विवेक हीन करे भी तो उसे सब बुद्धिमान लोग मूर्ख अथवा उन्मत्त ही कहेंगे। इसी प्रकार प्रभु श्री पार्श्वनाथ की पट्ट परम्परा के पुरुषों तथा पार्श्वनाथ जी के होने में जो संदेह करता है अथवा इंकार करता है उसे भी बुद्धिमान पुरुप उन्मत्त के तुल्य ही समझते हैं।

दूसरी बात यह है कि धूर्त पुरुष जो काम करता है वह अपने किसी सांसारिक सुख स्वार्थ सिद्धि के लिये करता है, परन्तु वह सर्व प्रकार से सांसारिक इन्द्रियजन्य सुख से रहित पांच महाव्रतधारी (केवल महाकष्ट रूप) परम्परा को नहीं चला सक्ता। जैन धर्म किसी धूर्त का चलाया हुआ नहीं है, यह तो अष्टादश दूषण रहित, वीतराग और सर्वज्ञ अरिहंत का चलाया हुआ है। यहां तो स्वार्थ और झूठ को स्थान ही नहीं है।

८१ प्र०—कई यूरोपियन विद्वान् जैसे कि प्रोफेसर ए वेबर साहबादि ऐसी कल्पना करते हैं कि जैन धर्म को बौद्ध धर्म

के ग्रन्थों के आधार से खड़ा किया गया है। वे यह भी कहते हैं कि बौद्ध धर्म के अनेक भिक्षु बुद्ध का त्याग करके उसके एक प्रतिपक्षी के रूप में महावीर के शिष्य बने और एक नया मत खड़ा कर दिया। इस कथन को आप सत्य मानते हैं अथवा नहीं?

उ०—इस कथन को हम सत्य नहीं मानते क्योंकि प्रोफेसर जेकोबी ने आचारांग और कल्पसूत्र के अपने किये हुए इङ्गलिश भाषांतर की उपयोगी प्रस्तावना में प्रो० ए० बेबर तथा मि० ए० बार्थ की इस उपर्युक्त कल्पना को निराधार* सिद्ध किया है और

---

* जर्मन द्विवान् प्रोफेसर जेकोबी ने अपनी जैन सूत्रों की प्रस्तावना में बहुत विस्तार पूर्वक विचार किया है, वे लिखते हैं। "इस बात से अब सब सहमत हैं कि नातपुत्त, जो महावीर अथवा वर्धमान के नाम से प्रसिद्ध हैं, वे बुद्ध के समकालीन थे। बौद्ध ग्रन्थों में मिलने वाले उल्लेख हमारे इस विचार को दृढ़ करते हैं कि नातपुत्त से पहले भी निर्ग्रंथों का—जो आज जैन अथवा आर्हत के नाम से अधिक प्रसिद्ध हैं अस्तित्व था। जब बौद्ध धर्म उत्पन्न हुआ तब निर्ग्रंथों का संप्रदाय एक बड़े संप्रदाय के रूप में गिना जाता होगा। बौद्ध पिटकों में कुछ निर्ग्रंथों का बुद्ध के अनुयायी बन जाने के रूप में वर्णन आता है। इस पर से हम उक्त बात का अनुमान कर सकते हैं। इसके विपरीत इन ग्रन्थों में किसी भी स्थान पर ऐसा उल्लेख या सूचक वाक्य देखने में नहीं आता कि निर्ग्रंथों का संप्रदाय एक नवीन संप्रदाय है और नातपुत्त (महावीर) इसके संस्थापक हैं। इस पर से हम अनुमान कर सकते हैं कि बुद्ध के जन्म से पहले अति प्राचीनकाल से निर्ग्रंथों का अस्तित्व चला आता है।

तथा फ्रेंच विद्वान् डाक्टर गेरिनाट कहता है कि "यह

अन्त में उसने यह भी लिखा है कि, "जैन धर्म के प्रतिपक्षियों को उचित है कि वे जैन धर्म के सिद्धान्त शास्त्रों पर अविश्वास न करें क्योंकि इनमें जो कथन हैं वे मानने योग्य हैं।" विशेप जानकारी के लिये डाक्टर बूलर साहब कृत पुस्तक में जैनदंत

बात निःसन्देह है कि पार्श्वनाथ एक ऐतिहासिक पुरुष थे, उनकी आयु एक सौ वर्प की थी तथा वे महावीर स्वामी से ढाई सौ वर्प पहले निर्वाण पाये थे। यह बात जैन परम्परा से सिद्ध होती है। इस प्रकार इनका जीवन काल ईसा पूर्व की आठवीं शताब्दि सिद्ध होता है। श्री महावीर के माता पिता भगवान् पार्श्वनाथ के अनुयायी थे।

(Introductin of his Essay on Jain Bibiography)

प्रोफेसर जेकोबी का कथन है कि :—

There is nothing to prove that Parshva was the founder of Jainism. Jain tradition isunanimous in making Rishbha the fist tirthankra. There may be something historical in the the tradition which makes him the fisrt tirthankra. Indian Anti quary vol IX.)

अन्त में जेकोबी जैनधर्म के लिये जिस नतीजे पर पहुंचते हैं वह इस प्रकार हैं :—

"अन्त में मुझे अपना निश्चय विचार प्रगट करने दो। मैं कहूंगा कि जैनधर्म के सिद्धान्त मूल सिद्धान्त हैं। यह धर्म स्वतन्त्र और अन्य धर्मों से सर्वथा भिन्न है। प्राचीन भारतवर्ष के तत्त्वज्ञान का और धार्मिक जीवन का अभ्यास करने के लिये यह बहुत उत्तम है।" (सम्पादक)

कथाओं की सत्यता के लिये देख लेना चाहिये।

हम भी अपनी बुद्धि के अनुसार इस प्रश्न का उत्तर लिखते हैं। हम प्रश्न नं० ७८-७९-८० में जैनधर्म की विद्यमानता प्रभु श्री पार्श्वनाथ जी से लेकर आज तक लिख आये हैं जिस से प्रोफेसर ए० वेबर का उपर्युक्त अनुमान सत्य सिद्ध नहीं होता अथवा यदि बौद्धमत के मूल पिटक ग्रन्थों में ऐसा उल्लेख भी हो कि "बुद्ध के कई शिष्य बुद्ध को छोड़कर इसके प्रतिपक्षी निर्ग्रंथों के नेता नातपुत्त (महावीर) के शिष्य बने और उन्होंने बुद्ध के समान नवीन कल्पना से जैनमत चलाया।" तब तो हमें भी जैन धर्म की प्राचीनता में संशय होना उचित है और प्रोफेसर ए० वेबर के अनुमान पर ध्यान देना भी उचित है। किन्तु वेबर की कल्पना की सत्यता सिद्ध करने के लिये बौद्ध पिटक ग्रन्थों में ऐसा कहीं भी उल्लेख नहीं पाया जाता। इसके विपरीत बौद्ध ग्रन्थों में ये उल्लेख तो अवश्य पाये जाते हैं कि "बुद्ध के समय में हजारों निर्ग्रंथ (जैन साधु) विद्यमान थे।" इससे स्पष्ट हो जाता है कि वे सब श्रमण भगवान् महावीर से पहले ही मौजूद थे जो कि तेईसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ भगवान् की शिष्य परम्परा से थे।

जैनधर्म के शास्त्रों में बुद्ध के विषय में कई उल्लेख पाये जाते हैं जिन का हम संक्षिप्त रूप से यहां उल्लेख करते हैं :—

(१) जैन प्रथमांग श्री आचारांग की टीका में ऐसा उल्लेख है कि :—

"मौद्गलिस्वातिपुत्राभ्यां शौद्धोदनिं ध्वजीकृत्य प्रकाशितः॥

इसका अर्थ यह है कि "मौद्गलिपुत्र तथा स्वाति पुत्र ने शौद्धोदन को ध्वजीकृत्य प्रकाशित किया अर्थात् मौद्गलायन और

सारि पुत्र इन दोनों ने शुद्धोदन के पुत्र गौतम को ध्वजा के समान सर्व मताध्यक्षों में सर्वोत्तम रूप से प्रकाशित किया।

आचारांग के टीकाकर के इस लेख का यह अभिप्राय है कि "शुद्धोदन पुत्र (गौतम बुद्ध) सर्वज्ञ तथा अतिशयमान पुरुष नहीं था परन्तु इसके दो उपयुक्त शिष्यों ने अपनी कल्पना से इसे सब से उत्तम प्रकाशित किया। इससे स्पष्ट है कि बुद्धमत नवीन कल्पना का परिणाम है।

तथा श्री आचारांग की टीका में एक लेख और भी पाया जाता है कि:—

"तच्चनिकोपासको नंदबलात् बुद्धोत्पत्तिकथानकात् द्वेषमुपगच्छेत्॥"

अर्थ :—बुद्ध के उपासक नन्द की बुद्धि के बल से बुद्ध की उत्पत्ति हुई है। यदि इस बात को सत्य-सत्य पर्षदा में कहें तो बुद्ध धर्मानुयायियों को द्वेष उत्पन्न होगा। इस लिये जिस कथन से सुनने वालों को द्वेष उत्पन्न हो वह जैन मुनि को पर्षदा में नहीं कहनी चाहिये।

इस लेख से यह आशय निकलता है कि बुद्ध की सर्वज्ञता, अति उत्तमता और सत्यता बुद्ध के उस जीवन-चरित्र से सिद्ध नहीं होती जिस चरित्र कथा को आनन्द आदि बुद्ध के उपासकों द्वारा रचा गया है।

सारांश यह है कि बुद्धधर्म गौतमबुद्ध ने चलाया परन्तु जैनधर्म तो इससे बहुत पहिले इस अवसर्पिणि काल में श्री ऋषभ जी से लेकर श्री महावीर तक चौबीस तीर्थंकरों का चलाया हुआ आज तक अक्षुण्ण रूप से चला आरहा है।

८२ प्र०—बुद्ध धर्म की उत्पत्ति की कथा आपने अन्य किन्हीं जैन श्वेताम्बर धर्म के शास्त्रों में पढ़ी है?

उ०—श्वेताम्बर धर्म के ग्रन्थों में जितना कथन श्री आचारांग सूत्र में हम ने देखा है सो तो प्रश्न नं० ८१ के उत्तर में लिख दिया है। किन्तु जैनधर्म की दूसरी शाखा जो दिगम्बर मत के नाम से प्रसिद्ध है उस शाखा के देवसेनाचार्य ने अपने बनाये हुए दर्शन सार नामक ग्रन्थ में बुद्धधर्म की उत्पत्ति इस प्रकार लिखी है :—

"सिरिपासनाहतित्थे सरयूतीरे पलासणायरत्थो।
पिहियासवस्स सिस्सो महासुदो बुड्ढकित्तिमुणी ॥ १ ॥

अर्थ :—श्री पार्श्वनाथ भगवान् के तीर्थ में सरयू नदी के तटवर्ती पलाश नामक नगर में पिहितास्रव साधु का शिष्य बुद्ध कीर्ति मुनि हुआ जो महाश्रुत या बड़ा भारी शास्त्रज्ञ था।

तिमिपूरणासणेहिं अहिगयपवज्जाओ परिब्भट्टो।
रत्तंबरं धरित्ता पवट्टियं तेण एयंतं ॥ २ ॥

अर्थ :—मछलियों के आहार करने से वह ग्रहण की हुई दीक्षा से भ्रष्ट हो गया और रक्ताम्बर (लाल वस्त्र) धारण करके उसने एकांत मत की प्रवृत्ति की।

मंसस्स णत्थिजीवो जह फले दहिय दुद्ध-सक्करए।
तम्हातं वांछत्ता तं भक्खं सो ण पाविट्ठो ॥ ३ ॥

अर्थ :—फल, दही, दूध, शक्कर आदि के समान मांस में भी जीव नहीं है अतएव उसकी इच्छा करने और भक्षण करने में कोई दोष नहीं है।

मज्जं ण वज्जणिज्जं दवदव्वं जहजलं तहा एदं।
इदि लोए घोसित्ता पविट्टियं सव्व सावज्जं ॥ ४ ॥

अर्थ :—जिस प्रकार जल एक द्रव द्रव्य है अर्थात् तरल या बहने वाला पदार्थ है, वह त्याज्य नहीं है। इस प्रकार की

घोषणा करके उसने संसार में सम्पूर्ण पाप कर्म की परिपाटी चलाई।

अण्णो करेदि कम्मं अण्णो तं भुंजदीदि सिद्धंतं।
परिकप्पिऊण णूणं सवि किच्चा णिरयमुववण्णो ॥ ५ ॥

अर्थ :—एक पाप करता है और दूसरा उसका फल भोगता है, इस तरह के सिद्धान्त की कल्पना करके और उससे लोगों को वश में करके या अपने अनुयायी बनाकर वह मरा और नरक में गया।

भावार्थ :—भगवान् पार्श्वनाथ के तीर्थ में सरयू नदी के किनारे पलास नामक नगर में पहितास्रव मुनि का शिष्य बुद्धकीर्ति आया। उस समय नदी में बाढ़ आई और अनेक मरे हुए मत्स्य उसमें बहते हुए किनारे पर आ लगे। उन्हें देखकर बुद्धकीर्ति ने विचार किया कि मरे हुए मत्स्य में जीव तो है नहीं, इस लिये मांस खाने में क्या पाप है? ऐसा निश्चय कर उसने जैन दीक्षा छोड़ दी और मांस भक्षण किया। तत्पश्चात् इस बात की उद्-घोषणा की कि; फल, फूल, दही, दूध की तरह मांस में भी जीव नहीं है, इस लिये मांस खाने में दोष नहीं है। शराब पीने में भी कोई दोष नहीं क्योंकि यह भी पानी के समान एक तरल पदार्थ है। इस प्रकार बुद्ध धर्म चलाया तथा यह भी कथन किया कि सर्व पदार्थ क्षणिक हैं, इस लिये पाप पुण्य का कर्ता अन्य है और भोक्ता अन्य है, इत्यादि।

तथा बुद्ध मत के ग्रथों में ऐसा भी लिखा है कि बुद्ध का एक देवदत्त नामक शिष्य था। उसने बुद्ध का मांस खाना छुड़ाने के लिये बहुत झगड़ा किया तो भी शाक्य मुनि बुद्ध ने मांस खाना नहीं छोड़ा तब देवदत्त ने बुद्ध को त्याग दिया।

एवं बौद्ध ग्रंथों में ऐसा भी वर्णन है कि-जिस समय बुद्ध की मृत्यु हुई, उस दिन भी चन्द नामक सुनार के घर से चावलों के साथ सूअर का रांधा हुआ मांस लाकर खाया था। तब मृत्यु को प्राप्त हुआ।

श्वेताम्बर जैनाचार्य कलिकाल-सर्वज्ञ जिन्होंने श्री हेमचन्द्र ने संस्कृत-प्राकृत के साढ़े तीन करोड़ श्लोकों की रचना की है; उन्होंने अपने योगशास्त्र के दूसरे प्रकाश की वृत्ति में यह श्लोक लिखा है कि:—

स्वजन्मकाल एवात्मजनन्युदरदारिणः।
मांसोपदेशदातुश्च, कथं शौद्धोदनेर्दया॥ १॥

अर्थ:—जिसने अपने जन्मकाल में ही अपनी माता माया का उदर विदारण किया और मांस का उपदेश दिया था, उस शुद्धौदन के पुत्र गौतम को दया कहां थी?

सारांश:—बुद्ध के जन्मकाल में ही उसकी माता की मृत्यु हो गयी थी (माता की तत्काल मृत्यु का वर्णन बौद्ध ग्रंथों में भी है) तथा बुद्ध ने मांसाहार स्वयं किया, मांसाहार का प्रचार किया और यहां-तक कि मरते समय भी मांसाहार करके मरा। इससे यह ज्ञात होता है कि वह गृहस्थावस्था से लेकर मृत्यु पर्यन्त मांसाहारी था। जैनधर्म में दीक्षित होने पर जब इसे सब प्रकार के त्याग और तपस्या मय जीवन का व्यतीत करना पड़ा तो वह उसे निभा न सका और एक नवीन मत की स्थापना की जिसमें तप और त्याग के मार्ग का विरोध किया और मांस मदिरा जैसी अभक्ष्य वस्तुओं का भी स्वयं भक्षण किया और इनके खाने का प्रचार भी किया।

यही कारण है कि बौद्धमत के भिक्षु तथा बुद्धमत के गृहस्थ आज तक भी मांस खाने से घृणा नहीं करते। आज तो

विज्ञान भी इस बात का साक्षी है कि कच्चा मांस अनगिनत जीव कीटाणुओं का पुञ्ज है और उसमें प्रतिक्षण कृमि समान जीव उत्पन्न होते रहते हैं।

इस बात से यह बात स्पष्ट है कि बुद्ध को न तो कोई विशिष्ट ज्ञान था और न ही किसी प्रकार का त्याग था।

क्योंकि इस मत में मांस आदि अभक्ष्य वस्तुएं खाने का निषेध नहीं है और न ही किसी प्रकार का तप और त्याग है इस लिये ही मांसाहारी देशों में भी इस धर्म का प्रचार आसानी से हो गया। इसके परिणाम स्वरूप आज भी मांसाहारी देशों में इस मत का प्राबल्य है।

८३ प्र०—श्रमण भगवान् महावीर स्वामी छद्मस्थ कितने काल तक रहे तथा केवली कितने काल तक रहे ?

उ० दीक्षा लेने के बाद १२ वर्ष ६ मास १५ दिन छद्मस्थ रहे तत्पश्चात् ३० वर्ष केवली रहे।

८४ प्र०—श्रमण भगवान् महावीर ने छद्मस्थावस्था में कहाँ-कहाँ चौमासे किये तथा केवली अवस्था में कहाँ-कहाँ किये?

उ०—छद्मस्थावस्था मे श्रमण भगवान् महावीर ने :— १—अस्थिग्राम में, २—राजगृह में, ३—चम्पा में, ४—पृष्ठ चम्पा में, ५—भाद्रिका में, ६—भद्रिका में, ७—आलंभिया मे, ८—राजगृह में, ९—अनार्य देश में, १०—सावत्थी में, ११—विशाला में, १२—चम्पा मे, ये ११ चौमासे किये। केवली होने के पश्चात् बारह चौमासे राजगृह में, ग्यारह विशाला में, छः मिथिला में तथा एक पावापुरी मे—इस प्रकार कुल तीस चौमासे किये।

८५ प्र०—श्रमण भगवान् महावीर स्वामी का निर्वाण

किस जगह और कब हुआ था ?

उ०—पावापुरी नगरी में हस्तिपाल राजा की लेखन सभा में निर्वाण हुआ था तथा विक्रम से ४७० वर्ष पहले । विक्रम सम्वत् १६४५ से २४१५ वर्ष पहले हुआ था।

८६ प्र०—जिस दिन श्रमण भगवान् महावीर स्वामी का निर्वाण हुआ था उस दिन कौन सा दिन और रात्रि थी ?

उ०—प्रभु महावीर का निर्वाण कार्तिक वदि अमावस्या की रात्रि के अन्त में हुआ था।

८७ प्र०—उस निर्वाण की रात्रि की स्मृति में कोई पर्व भारतवर्ष में चलता है या नहीं ?

उ०—भारतवर्ष में जो दिवाली* का पर्व चलता है सो

---

* यह पर्व मनाते सब हैं किन्तु किसी को यह पता नहीं कि यह पर्व कब से मनाया जाता है और क्यों, किसने चलाया और जिस रूप से मनाया जाता है उसका हेतु क्या है ?

(१) कोई इसका सम्बन्ध रामचन्द्र जी के अयोध्या लौटने के साथ लगाते हैं और कहते हैं कि लङ्का से लौटकर राम जब वापिस अयोध्या आये अथवा राजतिलक हुआ, उस समय अयोध्या नगर वासियों ने खुशी से दीपमाला की। परन्तु न तो रामायण में ऐसा लिखा मिलता है और किसी हिन्दु पुराण या वेद में भी दीवाली पर्व सम्बन्धी इस विषय का कोई उल्लेख नहीं मिलता। इस लिये यह धारणा निराधार होने के कारण कल्पना मात्र रह जाती है।

(२) कोई इसे सम्राट् अशोक की दिग्विजय का सूचक बतलाते हैं परन्तु इतिहासकार इसे भी सत्य स्वीकार नहीं करते।

(३) बौद्ध लोग इस पर्व को न तो मनाते ही हैं और न

ही उन के ग्रन्थों में इस पर्व सम्बन्धी कोई उल्लेख हो पाया जाता है।

(४) परन्तु जैनधर्म के अति प्राचीन श्वेताम्बर शास्त्र "कल्पसूत्र" में वर्णन है कि :—श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने जब कार्तिक वदि अमावस्या की रात्रि को पावापुरी में निर्वाण प्राप्त किया (ईसा पूर्व ५२७), उस समय चारों प्रकार के देवता, १८ देशों के राजा तथा सब नर नारियों ने मिल कर पूजा की और रत्नमयी दीप जलाये (महापुरुषों का निर्वाण भी महा-महोत्सव का कारण होता है)। उस समय उन दीपकों के प्रकाश से सारी पावा नगरी जगमगा उठी थी। फिर १८ देशों के राजाओं ने इसे पर्व को अपने राज्यों में सारी प्रजा को प्रति वर्ष मनाने का आदेश दिया। इसी से सारी प्रजा तथा भक्त जन जिनेश्वर की पूजा करने के लिये इसे प्रति वर्ष मनाने लगे। जो कि आज तक हजारों वर्षों से बराबर सारे भारतवर्ष में प्रति वर्ष श्रमण भगवान महावीर के निर्वाण दिवस के उपलक्ष में यह पर्व मनाया जा रहा है।

इसके सिवा दीवाली में लक्ष्मी पूजन की पद्धति प्रचलित है, दीवाली पूजन में घरोंदा (हटड़ी) भी रखी जाती है। उस हटड़ी के बीच में एक बड़ा दीपक जलाकर रखा जाता है, खिलौने भी रखे जाते हैं, इन सब का क्या प्रयोजन है इसको भी कोई नहीं जानता, किन्तु इसमें भी दीवाली की रात्रि को होने वाली श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के निर्वाण समय की घटनाओं के साथ गहरा सम्बन्ध है, जिसका समाधान श्वेतांबर जैन कल्पसूत्र शास्त्र में बड़ा ही युक्ति संगत किया है :—

(१) भगवान् महावीर का जब निर्वाण हुआ उसी समय

उनके प्रधान शिष्य गौतम गणधर को पूर्ण ज्ञान (केवलज्ञान) को प्राप्ति हुई। मुक्ति और ज्ञान को जैनधर्म ने सब से बड़ी लक्ष्मी माना है अतः संभव है कि आध्यात्मिक लक्ष्मी के पूजन के स्थान पर धीरे-धीरे बाह्य लक्ष्मी की पूजन प्रथा ने स्थान प्राप्त कर लिया हो।

(२) दीवाली पूजन के समय घरौंदा (हटड़ी) की पूजा भी होती है और उनके बीच में एक बड़ा दीपक प्रगटा कर रखते हैं तथा आस-पास मिट्टी के देवी-देवता, स्त्री-पुरुष तथा पशु-पक्षियों के खिलोने भी रखे जाते हैं। क्योंकि कल्पसूत्र में यह भी वर्णन है कि भगवान् महावीर ने अपना निर्वाण होने के पहले सोलह पहर (मतवातर दो-दिन-रात) समोसरण में विराजमान होकर बारह पर्षदाओं के सामने धर्म देशना दी थी, जिसमें देवी-देवता, मनुष्य-मनुष्नी, तथा पशु-पक्षी सब ने प्रभु के अमृतमय कल्याणकारी धर्म उपदेश का श्रवण किया। तथा गौतम स्वामी को केवल ज्ञान होने के बाद उनकी उपदेश सभा की देवताओं और राजाओं ने पूजा की हो, उसी की यादगार में हटड़ी रखी जाती है, बीच में बड़ा दीपक रखा जाता है जो कि तीर्थंकर की स्थापना रूप होता है तथा जो खिलौने रखे जाते हैं, समोसरण में देवता, मनुष्य, पशु-पक्षी जो उपदेश सुनने आते थे सो उनकी मूर्तियां रखी जाती हैं। हटड़ी का आकार भी समोसरण जैसा होता है।

इस प्रकार दीवाली के प्रकाश में हम प्रतिवर्ष श्रमण भगवान् महावीर स्वामी की निर्वाण, इन्द्रभूति गौतम की केवल-ज्ञान लक्ष्मी का पूजन करते हैं। भगवान् महावीर के अन्तिम समोसरण की रचना करते हैं। उसमें बड़े प्रकाशित दीपक की

श्रमण भगवान् महावीर के निर्वाण के निमित्त से ही चलता है, जिसे भारतवर्ष का सब प्रजा मतमतांतर के मतभेदों को भूल कर बड़े उत्साह के साथ मनाती है।

८८ प्र०—दीवाली की उत्पत्ति श्रमण भगवान् महावीर के निर्वाण से कैसे प्रचलित हुई ?

उ०—श्री कल्पसूत्र के मूल पाठ में वर्णन है :—जिस रात्रि को श्रमण भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ, उस रात्रि को नव मल्लिक जाति के राजा तथा नवलिच्छवी जाति के राजा जो कि चेटक महाराजा के सामन्त थे उन्होंने वहां उपवास रूप पौषध किया हुआ था। जब भगवान् का निर्वाण हुआ तब उन अठारह ही राजाओं ने सोचा कि भरतखंड में भाव उद्योत (केवल-ज्ञान रूपी प्रकाश) तो गया, उसके स्थान पर हमें द्रव्य उद्योत करना चाहिए। तब उन राजाओं ने सारी पावा नगरी में दीपमाला की। उस दिन से लेकर यह दीपमालिका उत्सव चालू हुआ।

जो अन्य धर्मावलम्बी दीवाली पर्व मनाने के कारणों का कथन करते हैं वे सब कल्पित हैं क्योंकि किसी मत के भी मुख्यशास्त्र में इस पर्व की उत्पत्ति का उल्लेख नहीं है।

८९ प्र०—जब प्रभु महावीर का निर्वाण होने वाला था तब शक्रेन्द्र ने आकर प्रभु से आयु बढ़ाने के लिये क्या प्रार्थना की थी और प्रभु ने उस का क्या उत्तर दिया था ?

उ०—श्रमण भगवान् महावीर से शक्रेन्द्र ने आकर यह प्रार्थना की थी कि :—"हे प्रभो ! आप अपनी आयु को एक

स्थापना कर दीपक की ज्योति को भगवान् महावीर की केवलज्ञान मयी आत्मा की कल्पना करके अन्तिम उपदेश सभा में भगवान् महावीर की पूजा के साज सजाते हैं। (संपादक)

क्षणमात्र के लिये बढ़ा लीजिये। क्योंकि आप के एक क्षणमात्र अधिक जीवित रहने से आपके जन्म नक्षत्र पर जो भस्मराशि नामक तीसवां ग्रह आया हुआ वह आप के शासन को पीड़ा नहीं दे सकेगा।"

तब प्रभु बोले :—हे शक्रेंद्र ! "यह न तो कभी हुआ है और न कभी होगा ! आयु बढ़ाने में कोई भी समर्थ नहीं। और जो मेरे शासन को पीड़ा होने वाली है, अवश्य होगी। होनहार को कौन टाल सकता है ?"

९० प्र०—इससे तो यह सिद्ध हुआ कि कोई भी देहधारी आयु नहीं वढ़ा सकता ?

उ०—हां यह बात सत्य है कि कोई भी देहधारी आयु नहीं बढ़ा सकता।

९१ प्र०-अनेक मतावलम्बी कहते हैं कि योगाभ्यास आदि करने से आयु वढ़ जाती है, यह कथन सत्य है या नहीं ?

उ०—यह मात्र अपनी महत्ता बढ़ाने के लिये लोग गप्पें हांकते हैं। क्योंकि इस जगत में होने वाले चौबीस तीर्थंकर, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, पातंजलि, व्यास, बुद्ध, ईसामसीह (Christ) मुहम्मद इत्यादि जितने भी मत चलाने वाले समर्थ पुरुष गिने जाते हैं इनमें से कोई भी अपनी आयु नहीं बढ़ा सका तो फिर सामान्य जीवों की क्या शक्ति है जो आयु को बढ़ा सकें। यदि किसी ने वढ़ाई हो तो अब तक जीता क्यों नहीं रहा ?

९२ प्र०—श्रमण भगवान् महावीर के भाई नन्दिवर्धन, तथा उनकी संसारावस्था की यशोदा स्त्री, बेटी, एवं जंवाई जमाली ने अपना जीवन कैसे व्यतीत किया ?

उ०—राजा नन्दिवर्धन तो श्रावक धर्म पालन करता रहा।

यशोदा भी श्राविका धर्म का पालन करती रही (क्योंकि इस के दीक्षा लेने का वृत्तांत मैंने तो किसी शास्त्र में नहीं देखा तथा इनकी पुत्री ने एक हज़ार स्त्रियों के साथ तथा जंवाई जमाली ने पांच सौ पुरुषों के साथ प्रभु श्री महावीर के पास दीक्षा ली थी।

९३ प्र०—श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने जो अन्त समय में सोलह पहर तक देशना दी थी, उसमें क्या-क्या उपदेश दिया था ?

उ०—प्रभु ने अपनी अन्तिम देशना में ५५ अध्ययन अशुभ कर्म विपाक के जिसमें जीव अपने किये हुए अशुभ कर्मों का भवांतर में कैसे-कैसे फल भोगते हैं इस बात का वर्णन है, ५५ अध्ययन शुभ कर्म के जिन में जीव अपने किये हुए शुभ कर्मों के भवांतर में कैसे-कैसे फल भोगते हैं इस बात का वर्णन है, ३६ अध्ययन बिना पूछे हुए प्रश्नों के उत्तर के कथन किये। तत्पश्चात् ५५ शुभ विपाक नामक अध्ययनों में से एक प्रधान नामक अध्ययन कथन करते हुए निर्वाण प्राप्त किया था। यह कथन "संदेह विषौषधि" नामक ताड़ पत्र पर लिखी हुई पुरानी कल्प-सूत्र पर लिखी हुई टीका में है।

ये सब अध्ययन श्री सुधर्मा स्वामी जी ने सूत्र रूप गूंथे

इस प्रकार दीवाली के प्रकाश में हम प्रति वर्ष श्रमण भगवान् महावीर स्वामी की निर्वाण, इन्द्रभूति गौतम की केवल ज्ञान लक्ष्मी का पूजन करते हैं। भगवान् महावीर के अन्तिम समोसरण की रचना करते हैं। उसमें बड़े प्रकाशित दीपक की स्थापना कर दीपक का ज्योति को भगवान् महावीर की केवलज्ञान मयी आत्मा की कल्पना करके अन्तिम उपदेश सभा में भगवान् महावीर की पूजा के साथ सजाते हैं। (संपादक)

अथवा नहीं, इस विषय का लेख किसी शास्त्र में मेरे देखने में नहीं आया।

९४ प्र०—जैनधर्म में रूढ़ि से कई लोग ऐसा कहते हैं कि श्री उत्तराध्ययन जी के छत्तीस अध्ययन दीवाली की रात्रि में कथन करके सैंतीसवां अध्ययन कथन करते हुए श्रमण भगवान् महावीर मोक्ष गये। सो यह कथन सत्य है या नहीं ?

उ०—यह कथन सत्य नहीं है क्योंकि कल्पसूत्र की मूल टीका के विरुद्ध है तथा श्री भद्रबाहु स्वामी ने उत्तराध्ययन की निर्युक्ति में ऐसा कथन किया है कि :—(१) उत्तराध्ययन का दूसरा परीषह अध्ययन तो कर्मप्रवाद पूर्व के सत्तरहवें पाहुड़ से उद्धार करके रचा है। (२) आठवां अध्ययन श्री कपिल केवली ने रचा है। (३) दसवां अध्ययन गौतम स्वामी के अष्टापद से होकर वापिस लौटने पर प्रभु ने गौतम को धैर्य देने के लिये चम्पा नगरी में कथन किया था। (४) तेईसवां अध्ययन केशी-गौतम के प्रश्नोत्तर रूप स्थविरों ने रचा था। (५) कई अध्ययन प्रत्येक बुद्ध मुनियों के रचे हुए हैं। (६) तथा अनेक अध्ययन जिन भाषित हैं। इसलिये उत्तराध्ययन सूत्र को श्रमण भगवान् महावीर ने दीपाली की रात्रि को कथन किया है, ऐसा सिद्ध नहीं होता।

९५ प्र०—निर्वाण शब्द का क्या अर्थ है ?

उ०—सर्व कर्म जन्य उपाधि रूप अग्नि का बुझ जाना निर्वाण कहलाता है, अर्थात् सर्वोपाधि से रहित, केवल शुद्ध, बुद्ध, सच्चिदानन्द रूप जो आत्मा का स्वरूप प्रगट होता है, उसे निर्वाण कहते हैं।

९६ प्र०—जीव को निर्वाण पद कब प्राप्त होता है ?

उ०—जब जीव के शुभाशुभ सर्व कर्म नष्ट हो जाते हैं तब जीव को निर्वाण पद प्राप्त होता है।

९७ प्र०—निर्वाण होने के बाद आत्मा कहां जाती है और कहां रहती है ?

उ०—निर्वाण होने पर आत्मा लोक के अग्रभाग में जाती है तथा सादि अनन्त काल तक सदा वहां ही रहती है।

९८ प्र०—कर्म रहित आत्मा को लोक के अग्रभाग में कौन ले जाता है ?

उ०—आत्मा में ऊर्ध्व गमन स्वभाव है, उस स्वभाव से आत्मा लोक के अग्रभाग तक जाती है।

९९ प्र०—आत्मा लोकाग्र के आगे क्यों नहीं जाती ?

उ०—आत्मा में ऊर्ध्वगमन स्वभाव तो है, परन्तु चलने में गति-सहायक धर्मास्तिकाय लोकाग्र से आगे नहीं है, इस लिये नहीं जाती है। जैसे मछली में तैरने की शक्ति तो है परन्तु जल बिना नहीं तैर सकती, इसी प्रकार मुक्तात्मा भी समझना।

१०० प्र०—सर्व जीव किसी काल में निर्वाण पद पायेंगे या नहीं ?

उ०—सब जीव किसी काल में भी निर्वाणपद नहीं पायेंगे।

१०१ प्र०—क्या सर्व जीव एक सरीखे नहीं हैं जो सब निर्वाणपद नहीं पा सकते ?

उ०—जीव दो प्रकार के हैं :—एक भव्य, दूसरे अभव्य। अभव्य जीव कभी भी निर्वाणपद को प्राप्त नहीं करेंगे, क्योंकि अनादि स्वभाव से ही इन में निर्वाणपद पाने की योग्यता नहीं

है। और जो भव्य जीव हैं, उनमें निर्वाणपद पाने की योग्यता तो है, परन्तु जिस जिस को निर्वाण होने के निमित्त मिलेंगे, वे ही निर्वाणपद पावेंगे, अन्य नहीं।

१०२ प्र०—सदा जीवों के मोक्ष जाने से किसी काल में सभी जीव मोक्षपद पा जावेंगे, तब तो संसार में अभव्य जीव ही रह जावेंगे। तब तो मोक्ष मार्ग बन्द हो जायेगा ?

उ०—भव्य जीवों की राशि आकाश के प्रदेशों की तरह अनन्त है तथा अनागत काल के समय की तरह अनन्त है। कितना ही काल व्यतीत हो जावे तो भी अनागतकाल का अन्त नहीं आता है, इसी प्रकार सदा मोक्ष जाने से जीव भी समाप्त नहीं होते।

इस लोक में निगोद जीवों के असंख्य शरीर हैं। प्रत्येक शरीर में अनन्त-अनन्त जीव हैं। उनमें से अनन्तवें भाग प्रमाण जीव अतीत काल में मोक्ष पाये हैं और उनमें से अनन्तवें भाग प्रमाण अनन्त जीव अनागत काल में मोक्ष पद पावेंगे। इस लिये मोक्ष मार्ग बन्द नहीं होगा।

१०३ प्र०—आत्मा अमर है कि नाशवान् ?

उ०—आत्मा सदा अविनाशी है, सर्वथा नाशवान् नहीं है।

१०४ प्र०—आत्मा अमर और अविनाशी है इस में क्या प्रमाण है ?

उ०—जिस वस्तु की उत्पत्ति होती है उस का नाश भी होता है, परन्तु आत्मा की उत्पत्ति नहीं हुई है। क्योंकि जिस वस्तु की उत्पत्ति होती है उस का उपादान (जिस वस्तु से पदार्थ बना) कारण भी होता है। जैसे घड़े का उपादान कारण मिट्टी का पिंड है। इसी प्रकार आत्मा का भी उपादान कारण कोई

अरूपी ज्ञानवान् वस्तु होनी चाहिये, जिस से आत्मा बने। ऐसा तो आत्मा से पहले कोई भी उपादान कारण नहीं है। इस लिये आत्मा अनादि अनन्त अविनाशी वस्तु है।

१०५ प्र०—यदि ईश्वर को आत्मा का उपादान कारण मान लिया जाय तब तो आत्मा अनित्य माननी पड़ेगी?

उ०—यदि ईश्वर आत्मा का उपादान कारण हो तब तो ईश्वर और सब संसारी आत्माएं एक ही सिद्ध हो जायेंगे क्योंकि अपने उपादान कारण से कार्य भिन्न नहीं होता।

१०६ प्र०—यदि ईश्वर और सब संसारी आत्माएं एक ही सिद्ध हो जायेंगे तो इस में क्या हानि है?

उ०—यदि ईश्वर और सब संसारी आत्माएं एक ही सिद्ध होंगे तो यह कहना पड़ेगा कि नरक, तिर्यंच गति में भी ईश्वर ही जावेगा, और धर्माधर्म करने वाला भी ईश्वर; चोर, जार, लुच्चा, लफंगा अगम्यगामी इत्यादि सब काम का कर्ता ईश्वर ही है और यह भी मानना पड़ेगा कि वेद, पुराण, बाईबल, कुरान प्रमुख शास्त्र भी ईश्वर ने अपने ही प्रतिबोध के वास्ते रचे। तब तो ईश्वर अज्ञानी सिद्ध होगा और उसके रचे हुए शास्त्र भी झूठे और निष्फल सिद्ध होंगे। जब ऐसा सिद्ध होगा तब तो माता, बहिन, बेटी के गमन करने को भी संकोच न होगा। जिस के मत में जो कुछ आवेगा वह पाप करेगा। क्योंकि सब कुछ करने कराने, फल भोगने-भुगताने वाला स्वयं ईश्वर ही है। ऐसा मानने से तो जगत में वाममार्गी अथवा नास्तिक मतों को खड़ा करने वाला स्वयं ईश्वर सिद्ध हो जायगा।

१०७ प्र०—जीवों का पुनर्जन्म किस कारण से होता है।

उ०—अठारह पापों को सेवन करने से इसे पुनर्जन्म लेना पड़ता है। वे १८ पापस्थान ये हैं :—

(१) जीवहिंसा (२) झूठ बोलना (३ चोरी करना (४) मैथुन-विषय सेवन करना (५) परिग्रह रखना (संग्रह करना) (६) क्रोध करना, (७) माया-छल प्रपंच करना, (८) मान-अहंकार करना, (९) लोभ-लालच करना, (१०) राग-स्नेह करना, (११ द्वेष-ईर्ष्या करना (१२) कलह-क्लेश करना. (१३) अभ्याख्यान-झूठा दोष लगाना, (१४) पैशुन्य-चुगली करना, (१५) पराई निंदा करना, (१६) रति-अरति-हर्ष अथवा शोक करना, (१७) माया मृषावाद-कपट सहित झूठ बोलना, (१८) मिथ्यादर्शन शल्य-कुदेव, कुगुरु, कुधर्म इन तीनों को क्रमशः सुदेव, सुगुरु, सुधर्म करके मानना।

१०८ प्र०—जीवों का पुनर्जन्म कैसे बन्द हो सकता है ?

उ० - उपर्युक्त अठारह पापों का त्याग करे और पूर्वजन्म में इन अठारह पापों के सेवन से जो कर्म बांधे हैं उनको अरिहंत की आज्ञानुसार ज्ञान, श्रद्धा, जप, तप करने से सर्वथा नाश करे, फिर पुनर्जन्म नहीं होता है।

१०९ प्र०—तीर्थंकर महाराज के प्रभाव से अपना कल्याण होगा या अपनी आत्मा के गुणों के प्रभाव से ?

उ०—अपनी आत्मा का मित्र निज स्वरूप-केवल ज्ञान दर्शनादि जब प्रगट होंगे, उस के प्रभाव से हमारा-तुम्हारा मोक्ष होगा

११० प्र०—यदि अपनी आत्मा के गुणों से ही मोक्ष होता है तो तीर्थंकर भगवान् की भक्ति करने का क्या प्रयोजन है ?

उ०—तीर्थंकर भगवान् की भक्ति करने में तीर्थंकर भगवान् निमित्त कारण है। बिना निमित्त के अपनी आत्मा

के गुण रूप उपादान कारण कभी फल नहीं देते हैं। यदि तीर्थंकर निमित्त भूत हों तब भक्ति रूप उपादान कारण प्रगट होता है। उस ही से आत्मा के सर्व गुण प्रगट होते हैं, जिन से मोक्ष होता है। जैसे घट बनने में मिट्टी उपादान कारण है तो भी बिना कुलाल चक्र-दंड-चीवरादि निमित्त के कभी घट नहीं बनता। वैसे ही तीर्थंकर रूप निमित्त कारण बिना आत्मा को मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। इसलिये तीर्थंकर की भक्ति अवश्य ही करनी चाहिये।

१११ प्र०—जगत् में जीव पुण्य पाप करते हैं, उनका फल देने वाला परमेश्वर है या नहीं ?

उ०—पुण्य पाप का फल देने वाला परमेश्वर नहीं है।

११२ प्र०—यदि ईश्वर को पुण्य पाप का फल देने वाला मान लिया जावे तो क्या हर्ज है ?

उ०—यदि ईश्वर को पुण्य-पाप का फल देने वाला मान लिया जावे तब तो ईश्वर की ईश्वरता को कलंक लगता है।

११३ प्र०—क्या कलंक लगता है ?

उ० —अन्यायता, निर्दयता, असमर्थता, अज्ञानता, आदि

११४ प्र०—पुण्य-पाप का फल देने से ईश्वर में अन्यायता का दूषण किस प्रकार आ जावेगा ?

उ०—जब एक आदमी ने किसी दूसरे आदमी का सिर तलवार आदि से काटा, तब मस्तक के कटने से उसे महा पीड़ा भोगनी पड़ी। ईश्वर ने पहले पुरुष के हाथ से दूसरे का मस्तक कटवाकर उसके पाप का फल भुगताया। फिर पहले पुरुष को फांसी आदि से मरवा कर दूसरे पुरुष के सिर काटने रूप अपराध का फल भुगताया। ईश्वर ने पहले तो एक आदमी का सिर

कटवाया और सिर काटने वाले को फांसी दिलवाई। ऐसे काम करने से ईश्वर अन्यायी सिद्ध होता है।

११५ प्र०—पुण्य पाप का फल भुगताने से ईश्वर में निर्दयता किस प्रकार सिद्ध होती है ?

उ०—जब ईश्वर कई जीवों को महादुःखी करता है तब निर्दयी सिद्ध होता है। स्वयं शास्त्रों में तो यह कहता है—"किसी जीव को मत मारो, दुःखी भी न करो, भूखों को देखकर खाने को दो"। और ईश्वर स्वयं तो उपर्युक्त कार्य करता नहीं। क्योंकि अकालादि में लाखों करोड़ों मनुष्यों की भूख से मृत्यु हो जाती है, उन्हें खाने को भी नहीं देता। इस लिये निर्दयी सिद्ध होता है।

११६ प्र०—ईश्वर तो जिस जीव ने जैसा-जैसा पुण्य पाप किया है उस को वैसा-वैसा फल देता है। इस में ईश्वर को कुछ दोष नहीं लगता, जैसे राजा चोर को दंड देता है और अच्छे काम करने वाले को इनाम।

उ०—राजा तो सब चोरों को चोरी करने से बन्द नहीं कर सकता। चाहता तो है कि मेरे राज्य में चोरी न हो। परन्तु ईश्वर को तो लोग सर्व सामर्थ्य वाला कहते हैं तो फिर वह जीवों को नये पाप कर्म करने से क्यों नहीं रोकता ? न रोकने से ईश्वर जान बूझकर तो जीवों से पाप कराता है, फिर उस का दंड देकर जीवों को दुःखी करता है। इसी हेतु से अन्यायी निर्दयी, असमर्थ ईश्वर सिद्ध होता है। इसी लिये ईश्वर किसी को पुण्य पाप का फल नहीं देता। यदि इस विषय के लिये विशेष ज्ञान प्राप्त करने की जिज्ञासा हो तो हमारे लिखे हुए जैनतत्त्वादर्श नाम पुस्तक को पढ़ें।

११७ प्र०—यदि ईश्वर पुण्य पाप का फल नहीं देता तो जीवों को अपने किये पुण्य पाप का फल कैसे मिलता है ?

उ०—जब जीव पुण्य पाप करते हैं तब उनके साथ ही उनके फल भोगने के निमित्त भी बना लेते हैं। उन्हीं निमित्तों के द्वारा जीव शुभाशुभ कर्मों का फल भोगते हैं।

११८ प्र०—जगत् का कर्ता ईश्वर है या नहीं ?

उ०—जगत् तो प्रवाह से अनादि चला आता है, किसी का मूल से रचा हुआ नहीं है। काल, स्वभाव, नियति, कर्म, चेतन आत्मा और जड़ पदार्थ इनके सर्व अनादि नियमों से यह जगत् विचित्र रूप प्रवाह से चला हुआ उत्पाद, व्यय ध्रुव स्वरूप से इसी तरह चला जायेगा।

११९ प्र०—भगवान् महावीर स्वामी ने तीर्थंकरों की प्रतिमा पूजने का उपदेश दिया है या नहीं।

उ०—श्रमण भगवान् महावीर स्वामी ने गृहस्थों के लिये जिन प्रतिमा की द्रव्य और भाव दोनों प्रकार से पूजा करने का उपदेश दिया है, परन्तु साधुओं के लिये केवल भाव पूजा का ही उपदेश दिया है।

१२० प्र०—जिन प्रतिमा की पूजा के बिना जिनकी भक्ति हो सकती है या नहीं ?

उ०—जिन प्रतिमा के बिना भगवान् का स्वरूप स्मरण नहीं हो सकता। इसलिये जिन प्रतिमा के बिना गृहस्थों से जिन राज की भक्ति नहीं हो सकती।

१२१ प्र०—जिन प्रतिमा तो पाषाणादि की बनी हुई है, उस के पूजने और गुणस्तवन करने से क्या लाभ होता है ?

उ०—हम जिन प्रतिमा को पत्थर समझ कर नहीं पूजते, किन्तु उस प्रतिमा के द्वारा साक्षात् तीर्थंकर भगवान् की पूजा स्तुति करते हैं। जैसे सुन्दर स्त्री का चित्र देखने से असल स्त्री का स्मरण हो जाने से कामी काम पीड़ित हो जाता है उसी प्रकार जिन प्रतिमा को देखने से भक्त जनों को असली तीर्थंकर के रूप का स्मरण हो आता है जिससे जिन भक्ति से उन का कल्याण हो जाता है।

१२२ प्र०—पुष्पादि से जिन प्रतिमा की पूजा करने से श्रावकों को पाप लगता है या नहीं ?

उ०—जिन प्रतिमा की फूल आदि से पूजा करने से संसार का क्षय होता है अर्थात् मोक्ष पद की प्राप्ति होती है। और जो किंचित् द्रव्य हिंसा होती है सो कूप के दृष्टांत समान पूजा से ही नष्ट हो जाती है, यह कथन आवश्यक सूत्र में है।

१२३ प्र०—क्या सब देवता जैन धर्मी हैं ?

उ०—सभी देवता जैन धर्मी नहीं, कितनेक हैं।

१२४ प्र०—जैन धर्मी देवता की भक्ति साधुओं तथा श्रावकों को करनी चाहिये कि नहीं ?

उ०—सम्यग् दृष्टि देवता की स्तुति करना जैन धर्म में निषिद्ध नहीं क्यों कि श्रुत, देवता ज्ञान के विघ्नों को दूर करते हैं। सम्यग् दृष्टि देवता धर्म में होते हुए विघ्नों को दूर करते हैं। और कोई जीव इस सांसारिक सुख के लिये भी यदि सम्यग् दृष्टि देवताओं का आराधन करे तो भी निषेध नहीं है। साधु भी जैन धर्म की उन्नति तथा विघ्नों की शांति के लिये सम्यग् दृष्टि देवता का आराधन और स्तुति कर सकते हैं। यह कथन पंचाशकादि शास्त्रों में है।

१२५ प्र०--जब जीव अपने किये हुए कर्मों का ही फल भोगते हैं तब देवताओं का आराधन करने की क्या आवश्यकता है ?

उ०—जैसे अशुभ निमित्तों के मिलने से अशुभ कर्म का फल उदय होता है वैसे ही शुभ निमित्तों के मिलने से अशुभ कर्मोदय नष्ट भी हो जाता है। इसलिये अशुभ कर्मोदय दूर करने में देवता भी निमित्त हैं।

१२६ प्र०--जैन धर्मी अथवा अन्यमति देवता बिना कारण किसी को दुःख दे सकते हैं या नहीं ?

उ०—जिस जीव के अशुभ कर्मों का किसी देवता के निमित्त से उदय होना है उस को तो द्वेषादि कारणों से दुःख दे सकते हैं। दूसरों को नहीं।

१२७ प्र०--संप्रति राजा कौन था ?

उ०—प्रभु महावीर का समकालीन राजा श्रेणिक (बिम्बसार) राजगृही का राजा था। उस की गद्दी पर उस का पुत्र अशोक चन्द्र (कोणिक) बैठा और उस ने अपनी राजधानी चम्पा बनायी। उस की गद्दी पर उस का पुत्र उदायी बैठा। उस ने अपनी राजधानी पाटलीपुत्र बनायी। राजा उदायी के कोई पुत्र नहीं था इसलिये उस की गद्दी पर नायिका पुत्र नन्द बैठा। इस की नव पीढ़ियों ने नन्द के नाम से ही राज्य किया इस लिये वे नव नन्द कहलाये। नवमें नन्द की गद्दी पर मौर्यवंशी चन्द्रगुप्त बैठा। उस की गद्दी पर उस का पुत्र विन्दुसार बैठा। उस की गद्दी पर उस का पुत्र अशोक श्री बैठा। उस का पुत्र कुणाल आंखों से अंधा था इस लिये उसे राज्य गद्दी नहीं मिली उस कुणाल का पुत्र संप्रति हुआ, इस का जिस दिन जन्म हुआ

उसी दिन से अशोक श्री ने उसे अपनी राजगद्दी पर बैठाया। यही सम्प्रति नामक राजा हुआ है।

श्रेणिक, कोणिक और उदायी ये तीनों जैन धर्म को मानते थे। नवनन्द कौन से धर्म के अनुयायी थे यह मैं नहीं जानता। चन्द्रगुप्त और बिन्दुसार ये दोनों भी जैन धर्मानुयायी थे। अशोक श्री भी जैन धर्मानुयायी था। कहते हैं कि बाद में इसने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था। यह संप्रति राजा तो परम जैन धर्मी था।

१२८ प्र०--संप्रति राजा ने जैन धर्म के लिये क्या-क्या कार्य किये ?

उ०—संप्रति राजा सुहस्ती आचार्य का बारह व्रतधारी श्रावक शिष्य था। इस ने द्राविड़, आंध्र, करणाटक आदि तथा काबुल कुराशानादि अनार्य देशों में जैन साधुओं का विहार कराकर जैन धर्म फैलाया। निनानवे हजार (९९०००) जीर्ण जिन मंदिरों का उद्धार कराया और छत्तीस हजार (३६०००) नये जैन मंदिर बनवाये। सवा करोड़ नवीन जिन प्रतिमाएं बनवा कर उन की प्रतिष्ठा करवाई। इस के बनाये हुए जैन मंदिर गिरनार-नाड़ोला आदि स्थानों में अब भी मौजूद हैं एवं इस की बनवाई हुई सैंकड़ों अत्यन्त मनोज्ञ जिन प्रतिमाएं आज तक जिन मंदिरों में विद्यमान हैं। सात सौ दान शालायें तथा प्रजा के उपकारार्थ औषधालय भी खोले थे। इस प्रकार राजा संप्रति ने जैन धर्म की बहुत-उन्नति, वृद्धि और प्रभावना की थी। यह भगवान् महावीर के २९१ वर्ष बाद (ईसा-पूर्व २३५ वर्ष) हुआ है।

१२९ प्र०--क्या मनुष्यों में कोई ऐसी शक्ति भी है

कि जिसके प्रभाव से वे अद्भुत काम कर सकते हैं ?

उ०—मनुष्य की अनन्त शक्तियां कर्मों के आवरणों से ढकी हुई हैं। यदि वे सब शक्तियाँ आवरण रहित हो जावें ता मनुष्य चमत्कारी अद्भुत काम कर सकता है।

१३० प्र०—वे शक्तियाँ किस से ढकी हैं ?

उ०—आठ कर्मों की अनन्त प्रकृतियों ने आच्छादन कर (ढक) रखी हैं।

१३१ प्र०—हम ने तो आठ कर्मों की १४८ प्रकृतियां सुनी हैं, आप अनन्त कैसे कहते हैं ?

उ०—१४८ अथवा १५८ ये आठ कर्मों की मध्यम प्रकृतियों के भेद हैं, और उत्कृष्ट को अनन्त भेद हैं क्योंकि आत्मा के अनन्त गुण हैं. उन को ढांकने वाली कर्म प्रकृतियां भी अनन्त हैं।

१३२ प्र०—मनुष्य में जो शक्तियां अद्भुत काम करने वाली हैं उनके नाम तथा किंचित् स्वरूप का वर्णन करो। तथा ये सब लब्धियाँ किस जीव को किस काल में होती हैं ?

उ०—शुभ अध्यवसाय तथा उत्कृष्ट तप संयम के आचरण से तत्तत्कर्म का क्षय और क्षयोपशम होकर आत्मा में जो विशेष शक्ति उत्पन्न होती है उसे लब्धि कहते हैं। शास्त्रकारों ने अट्ठाईस प्रकार की लब्धियाँ बतलाई :—

आमोसहि विप्पोसहि खेलोसहि जल्लओसही चेव।
सव्वोसहि संभिन्ने ओही रिउ विउलमइ लद्धी॥
चारण आसीविस केवलिय गणहारिणो य पुव्वधरा।

अरहंत चक्कवट्टी बलदेवा वासुदेवा य ॥
खीर महु सप्पि आसव कोट्ठय बुद्धी पयाणुसारी य ।
तह वीयबुद्धि तेयग आहारग सीय लेसा य ॥
वेउव्वि देह लद्धी अक्खीण महाणसी पुलाया य ।
परिणाम तव वसेणं एमाइं हुंति लद्धी ओ ॥

अर्थ :–(१) आमशौंपधि लब्धि । (२) विप्रुडौंपधि । लब्धि । (३) श्लेष्मौषधि लब्धि । (४) जल्लौषधि लब्धि । (५) सर्वौंपधि लब्धि । (६) सम्भिन्नश्रोत्र लब्धि । (७) अवधि लब्धि । (८) ऋजुमति लब्धि । (९) विपुलमति लब्धि । (१०) चारण लब्धि । (११) आशीविष लब्धि । (१२) केवली लब्धि । (१३) गणधर लब्धि । (१४) पूर्वधर लब्धि । (१५) अरिहन्त लब्धि । (१६) चक्रवर्ती लब्धि । (१७) बलदेव लब्धि । (१८) वासुदेव लब्धि । (१९) क्षीरमधु सर्पिराश्रव लब्धि । (२०) कोष्ठकबुद्धि लब्धि । (२१) पदानुसारी लब्धि । (२२) बीजबुद्धि लब्धि । (२३) तेजोलेश्या लब्धि । (२४) आहारक लब्धि । (२५) शीतलेश्या लब्धि । (२६) वैक्रिय लब्धि । (२७) अक्षीण महानसी लब्धि । (२८) पुलाक लब्धि ।

(१) आमशौंपधि—जिस लब्धि के प्रभाव से हाथ-पैरादि अवयवों के स्पर्शमात्र से ही रोगी स्वस्थ हो जाता है वह आमशौंषधि लब्धि कहलाती है । यह लब्धि साधु को ही होती है ।

(२) विप्रुडौषधि लब्धि—विप्रुड शब्द का अर्थ है मलमूत्र । जिस लब्धि के कारण मुनि के मलमूत्र आदि में सुगन्ध आने लगती है और व्याधि शमन के लिये वे औषधि का काम देते हैं,

वह विप्रुडौपधि लब्धि कहलाती है। यह लब्धि साधु को ही होती है।

(३) श्लेष्मौपधि लब्धि—जिस के प्रभाव से लब्धिधारी के श्लेष्म थूक से सुगन्ध आती है और रोगी के शरीर को लगाने से सब रोग तत्काल नष्ट हो जाते हैं, वह श्लेष्मौषधि लब्धि कहलाती है। यह लब्धि साधु को ही होती है।

(४) जल्लौषधि लब्धि—जिस के प्रभाव से साधु के शरीर का मैल और पसीने से रोगी के सब रोग शांत हो जावें उसे जल्लौषधि लब्धि कहते हैं। यह लब्धि साधु को होती है।

(५) सर्वौषधि लब्धि—जिस लब्धि के प्रभाव से मल, मूत्र, नख, केश, रोम आदि सब औषधि रूप हो जाते हैं और उन से रोगी के सब रोग नष्ट हो जाते हैं, वह सर्वौषधि लब्धि है। यह भी साधु को होती है।

(६) संभिन्नश्रोत्र लब्धि—जो शरीर के प्रत्येक भाग से सुने उसे संभिन्न श्रोता कहते हैं। ऐसी शक्ति जिस लब्धि से प्राप्त हो उसे संभिन्नश्रोत्र लब्धि कहते हैं।

अथवा कान, आंख, नाक, जीभ और शरीर ये इन्द्रियां अपने अपने विषय को ग्रहण करती हैं, किन्तु जिस लब्धि के प्रभाव से किसी भी एक इन्द्रिय से दूसरी सभी इन्द्रियों के विषय ग्रहण किये जा सकें वह सम्भिन्नश्रोत्र लब्धि है।

अथवा जिस लब्धि के प्रभाव से लब्धिधारी बारह योजन में फैली हुई चक्रवर्ती की सेना में एक साथ बजने वाले शंख, भेरी, काहला, ढक्का, घंटा आदि सब वाजित्रों के शब्द पृथक्-पृथक् रूप से सुन सके, वह सम्भिन्नश्रोत्र लब्धि है। यह साधु को होती है।

(७) अवधिज्ञान लब्धि—जिस लब्धि के प्रभाव से अवधि-ज्ञान की प्राप्ति होती है उसे अवधिज्ञान लब्धि कहते हैं। यह लब्धि चोरोगति के जीवों को होती है तथा विशेष कर साधुओं को होती है।

(८) ऋजुमति लब्धि—ऋजुमति और विपुलमति मनः पर्ययज्ञान के भेद हैं। ऋजुमतिमनः पर्ययज्ञान वाला अढ़ाई द्वीप से कुछ कम (अढ़ाई अंगुल कम) क्षेत्र में रहे हुए संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के मनोगत भाव सामान्य रूप से जानता है। जिस लब्धि से ऐसे ज्ञान की प्राप्ति होती है वह ऋजुमति लब्धि है। यह साधुओं को ही होती है अन्य को नहीं।

(९) विपुलमति लब्धि—विपुलमति मनः पर्ययज्ञान वाला अढ़ाई द्वीप में रहे हुए संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों के मनोगत भाव विशेष रूप से स्पष्टता पूर्वक जानता है। जिस लब्धि के प्रभाव से ऐसे ज्ञान की प्राप्ति होती है वह-विपुलमति लब्धि है। यह लब्धि साधु को ही होती है। यह लब्धि केवलज्ञान के हुए बिना नहीं जाती।

(१०) चारण लब्धि—जिस लब्धि के प्रभाव से आकाश में उड़ने की शक्ति उत्पन्न होती है वह चारण लब्धि है। जंघा चारण और विद्याचारण के भेद से यह लब्धि दो प्रकार की है। जंघाचारण लब्धि विशिष्ट चरित्र और तप के प्रभाव से उत्पन्न होती है। इस चारण लब्धि से जांघों द्वारा आकाश में उड़ने की शक्ति उत्पन्न होती है। इस लब्धि वाला ऊंचे तो मेरु पर्वत के शिखर तक उड़कर जा सकता है और तिरछे तेरहवें रुचक द्वीप तक जा सकता है।

विद्या चारण लब्धि—विद्या के प्रभाव से होती है। इस

लब्धि वाला ऊंचे तो मेरु पर्वत के शिखर तक और तिरछे आठवें नंदीश्वर द्वीप तक विद्या के प्रभाव से जा सकता है।

ये दोनों प्रकार की लब्धियां साधु को होती हैं।

(११) आशीविष लब्धि—जिन के दाढ़ों में महान् विष होता है वे आशीविष कहे जाते हैं। उनके दो भेद हैं—कर्म आशीविष और जाति आशीविप। तप, अनुष्ठान एवं अन्य गुणों में जो आशीविष की क्रिया कर सकते हैं यानी शापादि दे दूसरों को मार सकते हैं वे कर्म आशी विष हैं। उनकी यह शक्ति आशी विष लब्धि कही जाती है। यह लब्धि पंचेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्यों को होती है। आठवें सहस्रार देवलोक तक के देवों में भी अपर्याप्त अवस्था में यह लब्धि पाई जाती है। जिन मनुष्यों को पूर्व भव में ऐसी लब्धि प्राप्त हुई है वे आयु पूरी करके जब देवों में उत्पन्न होते हैं तो उनके पूर्व भव में उपार्जन की हुई यह शक्ति बनी रहती है। पर्याप्त अवस्था में भी देवता शापादि से जो दूसरों का अनिष्ट करते हैं वह लब्धि से नहीं, किन्तु देवभव कारणक सामर्थ्य से करते हैं और वह सभी देवों में सामान्य रूप से पाया जाता है।

जाति आशीविष के चार भेद हैं—बिच्छू, मेंडक, सांप और मनुष्य। ये उत्तरोत्तर अधिक विप वाले होते हैं। ये क्रमशः अर्द्ध भरत, भरत, जम्बूद्वीप और अढ़ाई द्वीप प्रमाण शरीर में हो सकता है। इसे आशी विष लब्धि कहते हैं।

(१२) केवली लब्धि–ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय इन चार घाती कर्मों के क्षय होने से केवल ज्ञान रूप लब्धि प्रगट होती है। इसके प्रभाव से त्रिलोक एवं त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थ हस्तामलकवत् स्पष्ट जाने देखे जा सकते हैं।

(१३) गणधर लब्धि—अन्तर्मुहूर्त में चौदह पूर्व गूंथने की शक्ति वाले तथा गण (समूह) को धारण करने वाले गणधर कहलाते हैं। जिस शक्ति से गणधर पदवी प्राप्त करते हैं वह गणधर लब्धि कहलाती है।

(१४) पूर्वधर लब्धि—जिस शक्ति से चौदह पूर्व, दस पूर्वादि पूर्व का ज्ञान होता है वह पूर्वधर लब्धि है। यह साधु को ही होती है।

(१५) अरिहंत लब्धि—जिससे आठ प्रातिहार्यों सहित तीर्थंकर पद की प्राप्ति होती है वह अरिहंत लब्धि कहलाती है।

(१६) चक्रवर्ती लब्धि—चौदह रत्नों के धारक और छः खंड पृथ्वी के स्वामी चक्रवर्ती कहलाते हैं। जिस लब्धि के प्रभाव से चक्रवर्ती पद प्राप्त होता है, वह चक्रवर्ती लब्धि कहलाती है।

(१७) बलदेव लब्धि—वासुदेव के बड़े भाई बलदेव कहलाते हैं। जिस के प्रभाव से इस पद की प्राप्ति हो उसे बलदेव लब्धि कहते हैं।

(१८) वासुदेव लब्धि—अर्द्धभरत (भरतक्षेत्र के तीन खंड) और सात रत्नों के स्वामी वासुदेव कहलाते हैं। इस पद की प्राप्ति होना वासुदेव लब्धि है।

(१९) क्षीरमधुसर्पिराश्रव लब्धि—जिसके वचन में ऐसी शक्ति है कि उसकी वाणी सुन कर श्रोता इस प्रकार तृप्त हो जाता है जिस प्रकार मानो दूध, मधु (शहद) और घी के खाने से तृप्त हो जाता है, वह क्षीरमधुसर्पिराश्रव लब्धि कहलाती है।

अथवा जिन साधु महात्माओं के पात्र में आया हुआ रूखा सूखा आहार भी क्षीर, मधु, घृत आदि के समान स्वादिष्ट

बन जाता है एवँ उसकी परिणति भी क्षीरादि की तरह ही पुष्टि कारक होती है, वह क्षीरमधुसर्पिराश्रव लब्धि कहलाती है। यह लब्धि साधु को प्राप्त होती है।

(२०) कष्ठक बुद्धि लब्धि—जिस प्रकार वस्तु कोठे में पड़ी हुई नाश नहीं होती है उसी प्रकार जो पुरुष जितना ज्ञान सीखे उस सब को ज्यों का त्यों याद रखे, जीवन पर्यन्त भूले नहीं उसे कोष्ठक बुद्धि लब्धि कहते हैं।

(२१) पदानुसारी लब्धि—एक पद सुनने से सम्पूर्ण पद कह दे उसको पदानुसारी लब्धि कहते हैं।

(२२) बीज बुद्धि लब्धि—जैसे एक बीज से अनेक बीज उत्पन्न होते हैं वैसे ही एक वस्तु के स्वरूप के सुनने से जिस से अनेक प्रकार का ज्ञान उत्पन्न होता है उसे बीजबुद्धि लब्धि कहते हैं।

(२३) तेजोलेश्या लब्धि—जिस साधु को तप के प्रभाव से ऐसी शक्ति उत्पन्न हो कि जिससे वह क्रोधवश होकर मुख के फुङ्कार से अनेक देशों को जला कर भस्म कर दे, उस शक्ति को तेजोलेश्या लब्धि कहते हैं।

(२४) आहारक लब्धि—प्राणी दया, तीथकर भगवान् की ऋद्धि का दर्शन, तथा संशय निवारण आदि प्रयोजनों से अन्य क्षेत्र में विराजमान तीर्थंकर भगवान् के पास भेजने के लिये चौदह पूर्वधारी मुनि अति विशुद्ध स्फटिक के समान एक हाथ का पुतला निकालते हैं, उनकी यह शक्ति आहारक लब्धि कहलाती है।

(२५) शीतलेश्या लब्धि—तप के प्रभाव से मुनि को ऐसी शक्ति उत्पन्न होती है जिस में तेजोलेश्या की उष्णता को रोक दे

तथा वस्तु को दग्ध न होने दे, उसे शीतलेश्या लब्धि कहते हैं।

(२६) वैकुर्विक देह लब्धि—जिसके सामर्थ्य से क्षणमात्र में अणु के समान सूक्ष्म, मेरु के समान बड़ा और भारी, आकड़े (आक-अर्क) की रूई के समान हल्का शरीर कर लेवे। एक वस्त्र में से करोड़ों वस्त्र, एक घट में से करोड़ों घट करके दिखला देवे। जैसा चाहे वैसा रूप कर लेवे। यह वैकुर्विक देह लब्धि कहलाती है। मनुष्यों और तिर्यंचों को यह लब्धि तप आदि का आचरण करने से प्राप्त होती है। देवता और नारकियों में विविध रूप बनाने की यह शक्ति भव कारणक होती है।

(२७) अक्षीण महानसी लब्धि—जिस लब्धि के प्रभाव से भिक्षा में लाये हुए थोड़े से आहार से लाखों आदमी भोजन करके तृप्त हो जाते हैं तो भी वह ज्यों का त्यों अक्षीण बना रहता है, लब्धिधारी के भोजन करने पर ही वह अन्न समाप्त होता है। उसे अक्षीण महानसी लब्धि कहते हैं।

(२८) पुलाक लब्धि—देवता के समान समृद्धि वाला विशेष लब्धि सम्पन्न मुनि लब्धि पुलाक कहलाता है।

जिस लब्धि द्वारा मुनि संघादि की रक्षा तथा धर्म की रक्षा के लिये धर्म के द्वेषी चक्रवर्ति आदि को सेना सहित नष्ट कर देता है उस लब्धि से युक्त मुनि लब्धि पुलाक कहलाता है। लब्धि पुलाक मुनि की यह विशिष्ट शक्ति ही पुलाक लब्धि है।

उपर्युक्त ये लब्धियां पुण्य, तप के प्रभाव से अन्तःकरण के बहुत शुद्ध परिणामों के होने से प्राप्त होती है।

१३३ प्र०—श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को उपर्युक्त अट्ठाईस (२८) लब्धियां थीं या नहीं।

उ०—श्रमण भगवान् महावीर स्वामी को तो अनन्त लब्धियां

थीं। ये अट्ठाईस तो किस गिनती में हैं। सब तीर्थंकरों को अनन्त लब्धियां होती हैं।

१३४ प्र०—श्री इन्द्रभूति गौतम को ये सब लब्धियां थीं या नहीं?

उ०—चक्रवर्त्ती, बलदेव, वासुदेव तथा ऋजुमति ये चार लब्धियां नहीं थीं, बाकी प्रायः सभी लब्धियां थीं।

१३५ प्र०—आप भगवान महावीर आदि तीर्थंकरों को ही सर्वज्ञ भगवान् मानते हैं अन्य देवों को नहीं, इसका क्या कारण है।

उ०—यदि आप अपने अपने मत का पक्षपात छोड़ कर विचार करेंगे तो श्रमण भगवान् महावीर आदि तीर्थंकरों में ही सर्वज्ञ भगवान् के सर्व गुण सिद्ध होते हैं, अन्य देवों में नहीं होते।

१३६ प्र०—श्रमण भगवान् महावीर आदि तीर्थंकरों को हुए तो बहुत वर्ष हुए हैं इस लिये इस बात को हम कैसे जान सकते हैं कि श्री महावीर आदि में ही सर्वज्ञ भगवान् के गुण थे?

उ०—सब देवों की मूर्तियां देखने से और अपने अपने मत में जो इन देवों के चरित्र कथन हैं उन्हें पढ़ने और सुनने से वास्तविक परमेश्वर के लक्षणों तथा कल्पित परमेश्वर के लक्षणों का परिचय प्राप्त हो जायगा जिस से सत्यता का पता लग जायगा।

१३७ प्र०—कैसी मूर्ति परमेश्वर भगवन्तों की नहीं हैं?

उ०—जिस मूर्ति के संग स्त्री की मूर्ति हो तब समझ लो कि यह देव विषय का भोगी है। जिस मूर्ति के हाथ में शस्त्र हो तो जान लो कि यह देव रागी, द्वेषी, वैरियों को मारने वाला

और असमर्थ हैं। जिस मूर्ति के हाथ में जप माला हो तो समझ लो कि वह किसी का सेवक है और कुछ मांगने के लिये माला जपता है।

१३८ प्र०—परमेश्वर की मूर्ति कैसी होती है ?

उ०—स्त्री, जपमाला, शस्त्र, कमण्डलु से रहित शांत, निस्पृह, ध्यानारूढ, शांत रस मग्न, मुख विकार रहित, ऐसी सच्चे देव (परमेश्वर) की मूर्ति होती है।

१३९ प्र०—वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा की मूर्ति के लक्षण जो आपने ऊपर वर्णन किये हैं वे प्रायः बुद्ध की मूर्ति में भी हैं, क्या तुम बुद्ध को सर्वज्ञ मानते हो ?

उ—हम केवल मूर्ति के रूप देखने से ही सर्वज्ञ का अनुमान नहीं करते किन्तु चरित्र भी सर्वज्ञ के योग्य हो, उसे ही सच्चा देव मानते हैं।

१४० प्र०—क्या बुद्ध का चरित्र सच्चे देव के तुल्य नहीं है ?

उ०—बुद्ध के ग्रन्थों के अनुसार बुद्ध का चरित्र सर्वज्ञ तुल्य ज्ञात नहीं होता।

१४१ प्र०—बुद्ध के शास्त्रों में बुद्ध का चरित्र कैसा है जिससे बुद्ध सर्वज्ञ सिद्ध नहीं होता ?

उ०—बुद्धधर्म के शास्त्रानुसार हम यहां बुद्ध के चरित्र का वर्णन करते हैं। इसे पढ़ने से बुद्ध का सर्वज्ञ होना सिद्ध नहीं होता :—

१—प्रथम बुद्ध संसार छोड़ कर निर्वाण का मार्ग जानने के लिये योगियों का शिष्य हुआ। वे योगी बड़े ज्ञानी थे और

जाति के ब्राह्मण थे। बुद्ध ने उनके पास योग की बातें सीखीं, तप भी किया किन्तु उनसे उसे संतोष नहीं हुआ। तब बुद्ध ने उन्हें छोड़ दिया और गया के पास जंगल में रहा।[1]

आलोचना :—इस ऊपर के लेख से यह बात सिद्ध होती है कि बुद्ध कोई विशिष्ट ज्ञानवान् नहीं था। यदि ज्ञानवान् होता तो उन सन्यासियों की निष्फल कष्ट क्रियाएँ क्यों करता और फिर गुरुओं को छोड़ कर स्वच्छंद होकर जंगल में क्यों चला जाता?

२—बुद्ध गया के समीप जंगल में छः वर्षों तक रहा और

१—वहीं पृ० ३४८।

इस तपस्या के बारे में बुद्ध स्वयं कहता है :—'मेरा शरीर (दुर्बलता) की चरम सीमा तक पहुंच गया था। जैसे अस्सी वर्ष वाले की गांठें वैसे ही मेरे अङ्ग प्रत्यङ्ग हो गये थे। जैसे ऊंट के पैर वैसे ही मेरा कूल्हा हो गया था। जैसे सूओं की (ऊंची-नीची) पांती वैसे ही पीठ के कांटे हो गये थे। जैसे शाल की पुरानी कड़ियां टेढ़ी मेढ़ी होती हैं, वैसी ही मेरी पसुलियां हो गयी थीं। जैसे गहरे कूएँ में तारा वैसे ही मेरी आंखें दिखाई देती थीं। जैसे कच्ची तोड़ी कड़वी लौकी हवा धूप से चुचक जाती है मुर्झा जाती है, वैसे ही मेरे सिर की खाल चुचक मुर्झा गयी। उस अनशन से मेरे पीठ के कांटे और पैर की खाल बिल्कुल सट गयी थी। यदि मै पाखाना या पेशाब करने के लिये (उठता) तो वहीं वहरा कर गिर पड़ता। जब मै काया को सहराते हुए, हाथ से गात्र को मसलता तो काया से सड़ी जड़ वाले रोम झड़ पड़ते। मनुष्य कहते, श्रमण गौतम काला है। कोइ कहते काला नहीं श्याम। कोई कहते, मंगुरवर्ण है। मेरा वैसा परिशुद्ध गोरे चमड़े का रङ्ग नष्ट हो गया था।

योग और अनशन की भीषण तपस्या की ।[२]

आलोचना :—जब इस ने गुरुओं को इस लिये छोड़ा था, कि उनकी क्रियाएँ उसे संतोष न दे सकीं तो फिर उनके कथन किये हुए निष्फल योग, उग्रध्यान और तप क्यों किये ? तथा जब वह तप करता हुआ मूर्छा खाकर गिर पड़ा तब उसने उनकी क्रियाओं को छोड़ दिया ।

इससे यह सिद्ध होता है कि बुद्ध ने अपने गुरुओं की क्रियाएँ संतोषजनक नहीं थी इसलिये उन्हें नहीं छोड़ा था। यदि इस लिये छोड़ा होता तो फिर गया के पास जंगल में जाकर छः वर्षों तक वही क्रियाएँ क्यों करता ? इससे तो यह सिद्ध होता है उसने उन क्रियाओं की निष्फलता के कारण अपने गुरुओं को नहीं छोड़ा होगा किन्तु कोई अन्य कारण होगा जिस से अनबन हो गई होगी और वह वहां से अलग हो गया होगा। इससे वह रागी, द्वेषी सिद्ध होता है। और तप करते हुए जब मूर्छा खा कर गिर पड़ा तो इससे अज्ञानी भी सिद्ध होता है।

२—वहीं पृ० ३४८।

लेकिन मैंने इस (तपस्या) से उस चरम दर्शन को न पाया। (तब विचार हुआ) बोधि के लिये क्या कोई दूसरा मार्ग है ? तब मुझे हुआ कि मैंने पिता शाक्य के खेत पर जामुन की ठण्डी छाया के नीचे बैठ प्रथम ध्यान को प्राप्त हो विहार किया था, शायद वह मार्ग बोधि का हो। किन्तु इस प्रकार की अत्यन्त कृश पतली काया से वह सुख मिलना सुकर नहीं है। फिर मैं स्थूल आहार ग्रहण करने लगा। उस समय मेरे पास पाँच भिक्षु रहा करते थे। जब मैं स्थूल आहार ग्रहण करने लगा, तो वे पांचों ही उदास हो चले गये।

३—फिर बुद्ध ने यह विचार किया कि केवल तप करने से ज्ञान प्राप्त नहीं होता है। इसके लिये मन को विकसित करने की आवश्यकता है, इसी से ज्ञान की प्राप्ति होगी। तब उसने खाने का निश्चय किया और तप छोड़ा।

आलोचना :—जब ध्यान और तप करने से मन का विकास नहीं हुआ तो खाने से मन का विकास कैसे हो सकता है? इस से यह भी सिद्ध होता है कि उसकी समझ असमंजस पूर्ण थी।

४—फिर बुद्ध अजपाल वृक्ष के नीचे पूर्व की तरफ बैठ गया और उसने ऐसा निश्चय किया कि जब तक मैं बुद्ध न होऊँगा तब तक इस स्थान को नहीं छोड़ूंगा। उस रात्री को उसे इच्छा-रोध करने का मार्ग और पुनर्जन्म का कारण तथा पूर्व जन्मांतरों का ज्ञान उत्पन्न हुआ। दूसरे दिन प्रातःकाल इस का मन पूर्ण रूप से विकसित हुआ और सर्वोपरि केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ[1]।

आलोचना—सोचने की बात है कि बुद्ध ने आत्मा को कर्म-मल से पवित्र करने वाले ध्यान और तप को तो छोड़ दिया और नित्य प्रति खाने लगा जिस से इच्छा निरोध का भी अभाव हो गया। ऐसी अवस्था में उसे निर्हेतुक इच्छारोध करने का और पुनर्जन्म के कारणों का ज्ञान कैसे हो गया? यह कथन तो अयौक्तिक सिद्ध होता है। इस से ऐसा प्रतीत होता है कि बुद्ध

१—बुद्ध स्वयं कहता है :—मैं ने एक रमणीय भू भाग में वन खण्ड में एक नदी को बहते देखा। उस का घाट रमणीय था। यही ध्यान योग्य स्थान है ऐसा सोच कर अजपाल वृक्ष के नीचे पूर्व की तरफ बैठ गया। और जन्मने के दुष्परिणामों को जान अनुपम निर्वाण (ज्ञान) को पा लिया। मेरा ज्ञान दर्शन साक्षात्कार बन गया इत्यादि (म. नि. पृ० १०५)।

सर्वज्ञ या केवल ज्ञानी नहीं था किन्तु बुद्ध के शिष्यों मोद्गलायन, शारी पुत्र और आनन्द आदि की कल्पना से लोगों में यह ज्ञानी सिद्ध हुआ है। बुद्ध सर्वज्ञ नहीं था इसकी पुष्टि के लिये बुद्ध के दर्शन का भी यहां किञ्चित् अवलोकन कर लेना उचित प्रतीत होता है :—

५—बुद्ध ने यह कहा है कि आत्मा नामक कोई पदार्थ नहीं है। आत्मा की कल्पना अज्ञानियों ने की है[1]।

१—बौद्ध दर्शन क्षण-क्षण परिवर्तन शील मन से परे किसी भी जीवात्मा को नहीं मानता। मरने का मतलब है मन का च्युत होना। बौद्ध दर्शन अपने आप को अनात्मवादी और अनीश्वरवादी मानता है। उनका कहना है कि आत्मा कोई नित्य वस्तु नहीं है परन्तु खास कारणों से स्कन्धों (भूत, मन) के ही योग से उत्पन्न एक शक्ति है जो अन्य बाह्य भूतों की भांति क्षण-क्षण उत्पन्न और विलीन हो रही है। चित्त, विज्ञान, आत्मा—एक ही चीज है। जिस प्रकार चक्षु. श्रोत्र, जिह्वा, घ्राण और त्वक इन्द्रियों को हम प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं, वैसे मन को नहीं। हमें मन की सत्ता क्यों स्वीकार करनी पड़ती है ? आंखें इमली देखती हैं और जिह्वा से पानी टपकने लगता है। नाक दुर्गन्ध सूंघती है और हाथ नाक पर पहुंच जाता है। आप देखते हैं आंख और जिह्वा एक नहीं हैं, न वे एक दूसरे से मिली हुई हैं। इस लिये इन दोनों के मिलाने के लिये एक तीसरी इन्द्रिय चाहिये, और वह है मन। उक्त कारण से चक्षु आदि इन्द्रियों के अतिरिक्त हमें उनके संयोजक एक भीतरी इन्द्रिय को मानने की जरूरत पड़ती है, जिसे मन कहते हैं। इससे परे आत्मा की क्या आवश्यकता ? इत्यादि।

आलोचना—जब बुद्ध ने अपने ज्ञान में न तो आत्मा के दर्शन किये और न ही उसे माना तो :—(१) आत्मा के बिना केवल ज्ञान किस को हुआ¹ ? (२) आत्मा के बिना पुनर्जन्म किस को होता है ? (३) जन्मान्तर करने वाला कौन है ? (४) पुण्य पाप का कर्ता भोक्ता किस को देखा ? (५) निर्वाण पद किस को हुआ देखा ?

६—बुद्ध प्रत्येक वस्तु को क्षण-क्षण में नाश होने वाला मानता है, मन जो चेतना रूप है वह भी क्षण-क्षण में नाश होता है। एक मन नाश होने से पहले वह अपनी सन्तान छोड़ जाता है इस प्रकार क्षण-क्षण परिवर्तन शील मन के परे किसी

१—बुद्ध सर्वज्ञ नहीं था इस की पुष्टि के लिये अनेक प्रमाण हैं :—बुद्ध से जब लोग प्रश्न करते थे कि :—(१) क्या लोक है ? (२) क्या लोक अनित्य है ? (३) क्या लोक अन्तवान है ? (४) क्या लोक अनन्त है ? (५) क्या जीव और शरीर एक है ? (६) क्या जीव दूसरा शरीर दूसरा है ? (७) क्या मरने के बाद तथागत-बुद्ध मुक्त होते हैं ? (८) क्या मरने के बाद तथागत नहीं होते ? (९) क्या मरने के बाद तथागत होते भी हैं ? नहीं भी होते हैं ? (१०) क्या मरने के बाद तथागत न होते हैं ? न नहीं होते हैं ? ये प्रश्न बुद्ध से मालुंक्य पुत्र ने किये थे। यदि भगवान जानते हैं तो बतलायें, यदि नहीं जानते हों तो न जानने समझने वाले के लिये यही सीधी बात है कि वह साफ़ कह दे—मैं नहीं जानता, मुझे नहीं मालूम। म० नि० २।२।३॥

बुद्ध ने उत्तर दिया ये दस अकथनीय हैं। यदि वह सर्वज्ञ होता और इन के स्वरूप का जानकार होता तो इन्हें अकथनीय कहकर न टाल देता और उनका स्वरूप बतलाता।

भी जीवात्मा को नहीं मानता। बुद्ध जन्मान्तर मानता है और कर्म का फल भी मानता है।

आलोचना :—आत्मा तो है नहीं। मात्र मन और इन्द्रियां हैं, वे भी क्षण-क्षण में नाश हो रही हैं। तो आत्मा के सिवाय इन्द्रियां और मन जड़ हैं, जड़ स्वभाव मन इन्द्रियों को कर्म का बन्ध कैसे सम्भव हो सकता है? फिर वह भी क्षण-क्षण परिवर्तन शील है तो यदि यह कहें कि नवीन नवीन क्षण को पिछले पिछले क्षणों की वासना लगती जाती है, तो कर्ता तो पहिला क्षण है और भोक्ता अगला क्षण है। निर्वाण का साधन तो पहिले क्षण ने किया और निर्वाण अगले क्षण ने प्राप्त किया। साधना करने वाला कोई और फल पाने वाला कोई, यह बात भी अयौक्तिक है। कर्म करने वाला अन्य क्षण और कर्म का फल पाने वाला अन्यक्षण। इस प्रकार मानने से तो कर्म करने वाला विना उसका फल भोगे ही चला गया और अगला उत्पन्न होने वाला बिना किये कर्म का फल भोगे यह भी अयौक्तिक है। दण्ड तो अपराधी को ही मिलना चाहिये, निरपराधी को क्यों?

७—बौद्ध दर्शन निर्वाण का अर्थ करता है:—बुझना-दीप या आग का जलते-जलते बुझ जाना। जीवन प्रवाह का अत्यन्त विच्छेद ही निर्वाण है अर्थात् सर्व क्षण परम्परा का सर्वथा अभाव हो जाना।

आलोचना :—क्षणों के सर्वथा अभाव को निर्वाण मानने से भी प्रश्न उत्पन्न होता है:—कि निर्वाण गत पुरुष के मरने के बाद क्यों होता है? इस का उत्तर भी बुद्ध ने कुछ नहीं दिया।

तथा जब आत्मा को ही नहीं माना तो ईश्वर भी आत्मा का शुद्ध स्वरूप है, इसी लिये बुद्ध ईश्वर को कैसे मान सकता था।

अथवा यदि यह कहो कि शुद्ध क्षणों का परम्परा रहती है, पांच स्कन्धों से वस्तु उत्पन्न होती है, क्योंकि पांचों स्कन्ध भी क्षणिक हैं इस लिये कारण-कार्य भी एक काल में होते नहीं। इस लिये यह सारे का सारा सिद्धान्त अयौक्तिक है।

८–बुद्ध मांसाहारी था। उसके शिष्य देवदत्त ने उसे मांस खाना छुड़ाने के लिये बहुत समझाया, परन्तु बुद्ध ने न माना। अन्त में भी सुअर का मांस और चावल अपने भक्त के घर से लाकर उसने खाया और वेदनाग्रस्त हो कर मरा।

६—बुद्ध सर्वज्ञ नहीं था :—क्योंकि उसके सिद्धान्त जिस का हम संक्षिप्त विवरण इस प्रश्न में ऊपर लिख आये हैं कि ऐसी असङ्गत बातें सर्वज्ञता की सूचक नहीं हैं। बुद्ध ने पानी आदि में भी जीव नहीं माना। इसी लिये उसने अपने शिष्यों को कच्चे पानी से स्नान करने और उसे पीने की आज्ञा दी। ऐसे असमंजस मत के उपदेशक को सर्वज्ञ कैसे माना जा सकता है।

१०—जो जो धर्म के शब्द बौद्ध मत में कथन किये हैं वे सब ब्राह्मणों के मत में तो हैं नहीं, इस लिये वे सब शब्द जैन दर्शन से लिये हैं। क्योंकि बुद्ध से पहले जैन धर्म था इसके प्रमाण हम ऊपर लिख आये हैं। (और बुद्ध प्रथम जैन सन्यासियों का शिष्य हुआ इस बात के प्रमाण प्रश्न नं० ८२ के उत्तर में लिख आये हैं)। बुद्ध के शिष्य मौद्गलायन और शारिपुत्र ने जैन धर्म के अन्तिम तीर्थंकर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी के चरित्र का अनुकरण करके लिखा है जिससे उन्होंने बुद्ध को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करने का प्रयास किया है। परन्तु उपर्युक्त

वर्णन से बुद्ध सर्वज्ञ सिद्ध नहीं होता, इसलिये जैन लोग बुद्ध को सर्वज्ञ नहीं मानते ।[1]

१४२-प्र०—कई युरोपियन विद्वान् ऐसा कहते हैं कि जैन धर्म ब्राह्मण धर्म में से निकला है, अर्थात् ब्राह्मणों के वेदादि शास्त्रों के आधार से जैन धर्म की रचना की गयी है ?

उ०—ऐसा मालूम होता है कि युरोपियन विद्वानों ने जैन दर्शन के सब शास्त्रों को नहीं पढ़ा । यदि पढ़ा होता और निष्पक्ष रूप से उनका अभ्यास किया होता तो वे ऐसा कदापि न लिखते ।

न तो ब्राह्मणों के मत में अधिक ज्ञान है और न ही जैन दर्शन से इन के मत का मेल खाता है । यदि जैन दर्शन का ज्ञान ब्राह्मण धर्म से मेल खाता हो तब तो हम भी जैन धर्म को ब्राह्मण धर्म से निकला हुआ मान लें । परन्तु जैन धर्म का ज्ञान ब्राह्मणादि सब मतों के पुस्तकों से अधिक है और विलक्षण है । क्योंकि जैन धर्म के छेद ग्रन्थ और कर्म सिद्धान्त का स्वरूप कथन करने वाले कर्म प्रकृति, पंच संग्रह, षट्कर्म ग्रन्थ आदि

१—बुद्ध के समकालीन श्रमण भगवान् वर्धमान को सर्वज्ञ सर्वदर्शी कहा जाता था जिसका प्रभाव पीछे बुद्ध के अनुयायियों पर भी पड़े बिना नहीं रहा । बुद्ध स्वयं अपने आप को सर्वज्ञ नहीं मानते थे । इसका प्रमाण उन्हीं के ग्रन्थों से दे देना ठीक होगा :—वत्सगोत्र ने बुद्ध से पूछा :—सुना है भन्ते ! श्रमण गौतम सर्वज्ञ सर्वदर्शी हैं । (क्या ऐसा कहने वाले) यथार्थ कहते हैं । भगवान् की असत्य से निन्दा तो नहीं होती ।"

बुद्ध ने उत्तर दिया :—"वत्स ! जो कोई मुझे ऐसा कहता है, वह मेरे बारे में यथार्थ कहने वाले नहीं है । वह असत्य से मेरी निन्दा करता है ।" म० नि० २ । ३ । १

ग्रन्थों में जैसा ज्ञान कथन किया है, वैसा ज्ञान सब संसार के मतों के ग्रन्थों में नहीं है। इस लिये जैन धर्म वैदिक ब्राह्मण धर्म की शाखा तो सिद्ध नहीं हो सकता परन्तु यह तो सिद्ध हो सकता है कि सब मता में जो जो सूक्त वचन रचना है वह सब जैन दर्शन के द्वादशांग समुद्र के ही बिन्दु लेकर रचे गये हैं अर्थात् सब मतों में जैन दर्शन के द्वादशांग समुद्र के ही बिन्दु गये हुए हैं।

(१) विक्रमादित्य राजा के पुरोहित का मुकन्द नामक पुत्र चार वेदादि चौदह विद्याओं का पारगामी था। उसने जैनाचार्य वृद्धवादी के पास जैन धर्म की दीक्षा ली, गुरु ने कुमुद चन्द्र नाम रखा और आचार्यपद मिलने पर इनका नाम सिद्धसेन दिवाकर प्रसिद्ध हुआ। कवि कालीदास ने अपने रचे हुए ज्योतिविदाभरण ग्रंथ में विक्रमादित्य की सभा के पंडितों में इनका नाम श्रुतसेन लिखा है। इन्हों ने अपने रचे हुए बत्तीस बत्तीसी ग्रन्थ में लिखा है कि :—

सुनिश्चितं नः परतंत्रयुक्तिषु, स्फुरन्ति याः काश्चन सूक्तसंपदः।
तवैव ताः पूर्वमहार्णवोत्थिता, जगत्प्रमाणं जिन वाक्यविप्रुषः॥
श्लोक ३०। द्वात्रिंशिका १

उदधाविव सर्वसिन्धवः, समुदीर्णास्त्वयि सर्वदृष्टयः।
न च तासु भवानुदीक्ष्यते, प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः॥
श्लोक १५। द्वात्रिंशिका ४

भावार्थ :—अन्य सर्व मतों में जो जो सूक्त वचन रचना है वे सब जैन धर्म के द्वादशांग समुद्र के ही बिन्दु हैं अर्थात् अन्य मत वालों ने जैन दर्शन के द्वादशांग रूप महान् समुद्र में से

कुछ बिन्दुओं को (किसी एक आदि सिद्धान्तों को) लेकर अपने मत की रचना की है।

हे प्रभो ! समुद्र में सब नदियां समा सकती हैं किन्तु समुद्र किसी भी एक नदी में नहीं समा सकता, वैसे ही सर्व मत नदियों के समान होने से तेरे स्याद्वाद रूप महान् समुद्र में समा सकते हैं किन्तु तेरा स्याद्वाद रूप समुद्र धर्म तो किसी मत में भी सपूर्ण नहीं समा सकता।

(२) तथा आचार्य हरिभद्र सूरि जो जाति के ब्राह्मण थे और चित्रकूट राजा के पुरोहित थे, वे वेद वेदांग आदि चौदह विद्याओं के पारगामी थे। उन्होंने जैन धर्म की दीक्षा लेकर १४४४ ग्रन्थों की रचना की है। उन्हा ने भी अपने उपदेश पद षोडशकादि प्रकरण ग्रन्थों में सिद्ध सेन दिवाकर की तरह ही लिखा है।

(३) एवं धनपाल जो कि जाति का ब्राह्मण और राजा भोज की सभा का मुख्य पंडित था तथा शैवादि सकल दर्शनों और सब मतों के वेदादि शास्त्रों का जिस ने अभ्यास किया था, जब उसने जैन धर्म को स्वीकार किया तब उसने भी युगादि देव श्री ऋषभ देव भगवान् की स्तुति करते हुए इस प्रकार कहा है :—

"पावंति जसं असमंजसा वि, वयणेहिं जेहि पर समया।
तुह समय महोअहिणो, ते मंद बिन्दु निस्सन्देहा ॥"

अर्थ :—जैन दर्शन के बिना अन्य मतों के जो असमंजस वचन रूप शास्त्र जगत् में यश प्राप्त कर रहे हैं वे सब वचन निस्सन्देह तेरे स्याद्वाद रूप महोदधि के मंद (छोटे-छोटे) बिन्दु उड़कर गये हुए हैं। इत्यादि

चार वेद वेदांगादि के सैंकड़ों विद्वानों ने जैन धर्म की दीक्षा

ग्रहण की तो क्या उन सब विद्वानों को बौद्धायनादि शास्त्र पढ़ने से ऐसा ज्ञान न हुआ होगा कि बौद्धायनादि शास्त्र जैन धर्म के वचनों को लेकर रचे गये हैं अथवा जैन धर्म बौद्धायनादि शास्त्रों से रचा गया है? उन्हें तो यह बात निःसन्देह प्रतीत हुई कि जगत के सब मत जैन दर्शन के स्याद्वाद रूप महासमुद्र के मन्द बिन्दुओं से रचे गये हैं, इसीलिये वे असमंजस में हैं क्योंकि एक अंश दूसरे अंश के बिना सदा ही असमंजस बन जाता है। इसी लिये उन्होंने उन मतों को त्याग कर जैन धर्म को स्वीकार किया।

कोई यह अनुमान कर सकता है कि बौद्धायनादि शास्त्र भगवान् महावीर से पहले रचे हुए हैं, इसलिये जैन धर्म इनके बाद उत्पन्न हुआ है।

यह मानना भी ठीक नहीं है क्योंकि जैन धर्म के अन्तिम तीर्थंकर भगवान् श्री महावीर से ढाई सौ (२५०) वर्ष पहिले भगवान् श्री पार्श्वनाथ जो और उन से पहिले भगवान् श्री नेमिनाथ आदि तीर्थंकर हो गये हैं, उनके वचनों को लेकर बौद्धायनादि शास्त्रों की रचना की गयी है; जैनों की ऐसी मान्यता है।

यदि कोई यह कहे कि जैनधर्मानुयायी संख्या में थोड़े हैं और ब्राह्मण वेद धर्मानुयायी बहुत हैं, इसलिये छोटे मत से बड़ा मत निकला यह कैसे सम्भव हो सकता है?

यह अनुमान भी अतीत काल की अपेक्षा सच्चा मानना ठीक नहीं है क्योंकि गौतम बुद्ध की मौजूदगी में बुद्ध धर्म अत्यन्त अल्प विस्तार पा सका था जोकि भारतवर्ष के अमुक-अमुक स्थानों में ही प्रचलित था। परन्तु बाद में यह धर्म इतना विस्तार पा सका कि न केवल सारे भारत में व्याप्त हो गया परन्तु चीन, जापान, ब्रह्मा, मलाया, श्याम, तिब्बत इत्यादि अनेक विदेशों में भी

फैल गया जिसके सामने (बुद्ध धर्म रूपी सूर्य के सामने) ब्राह्मण वेद धर्म एक टिमटिमाता हुआ दीपक सा बनकर रह गया। इसी प्रकार कोई मत किसी काल में अधिक हो जाता है और किसी काल में न्यून हो जाता है। इस लिये थोड़े और बहुत धर्मानुयायियों को देख कर यह मान लेना कि बड़े मत से छोटे मत की रचना हुई है, यह अनुमान भी सच्चा नहीं हो सकता।

भट्ट मोक्षमूलर ने यह सिद्ध कर दिया है कि वेदों के छंद-भाग और मन्त्र भाग की रचना हुए २६०० से ३१०० वर्ष हुए हैं। इस लिये बौद्धायनादि शास्त्र जैन धर्म से पहले रचे हुए सिद्ध नहीं होते। मनः कल्पित अनुमान से जो कल्पना की जाती है ऐसे बुद्धिमान लोग सत्य कैसे मान सकते हैं।

इस लिये इस में कोई संदेह जैसी बात नहीं है कि संसार के अन्य जितने भी मत (दर्शन) हैं उन सब मतों का ज्ञान जैन दर्शन में है और उन सब दर्शनों ने जैन दर्शन के अमुक-अमुक अंश को लेकर अपने-अपने मतों की रचना की है। परन्तु जैन दर्शन का सम्पूर्ण ज्ञान किसी भी अन्य मत में नहीं है।

अतः जैन धर्म के द्वादशांग के किंचित् वचनों को लेकर लोगों ने उनमें मनः कल्पित कुछ अधिक मिलाकर अपने-अपने मत रच लिये हैं। यह बात उपर्युक्त अनुमानों से बराबर सिद्ध हो जाती है।

१४३ प्र०—कई युरोपियन विद्वान् ऐसा कहते हैं कि बुद्ध मत के ग्रन्थ जैन धर्म से श्रेष्ठ हैं, सो इस के लिये आपका क्या मत है?

उ०—बुद्ध धर्म के ग्रन्थ यदि श्लोक संख्या में अधिक हों

गिनती में अधिक हों अथवा कविता में अधिक हों, इस लिये कोई इन्हें श्रेष्ठ माने तो हमें इसमें कोई आपत्ति नहीं है, परन्तु यदि कोई ऐसा मानता हो कि बौद्ध ग्रन्थों में जैन ग्रन्थों से धर्म का स्वरूप अधिक और उत्तम है तो यह मान्यता सर्वथा असंगत प्रतीत होती है, क्योंकि जैन ग्रन्थों में धर्म का जैसा रूप और धर्म नीति का जैसा स्वरूप वर्णित है वैसा सर्व जगत् के ग्रन्थों में नहीं है।

१४४ प्र०—जैन धर्म के ग्रन्थ बहुत थोड़े हैं और बौद्ध धर्म के ग्रन्थ बहुत हैं इस लिये तो बौद्ध धर्म को श्रेष्ठ कह सकते हैं?

उ०—वर्तमानकाल में भी जितने जैन धर्म के शास्त्र ग्रन्थादि मौजूद हैं, उन सब को सब जैनों ने भी नहीं देखा तो युरोपियन विद्वान् कैसे देख सकते हैं? क्योंकि पाटन, जैसलमेर आदि नगरों में जैन शास्त्रों के अनेक गुप्त भंडार हैं जो कि किसी युरोपियन ने आज तक नहीं देखे। इसलिये उपर्युक्त उनका अनुमान कैसे सत्य हो सकता है।

१४५ प्र०—जैन धर्म के शास्त्र ग्रंथादि जो जैनों के पास सुरक्षित हैं, उन शास्त्रों को वे दूसरों को क्यों नहीं दिखलाते, इस का क्या कारण है?

उ०—हमें तो इसका कारण यह मालूम होता है कि मुसलमानों ने अपने राज्यकाल में भारतवर्ष में जैनों के हजारों मन्दिरों को ध्वंस कर डाला और उनके स्थान पर अपनी मसजिदें खड़ी कर डालीं और जैन शास्त्रों के सैंकड़ों भंडार जला डाले। इन अत्याचारों के ज्वलंत उदाहरण रूप आज भी अनेक स्थानों

में जैन मन्दिरों के ध्वंसावशेष और उनके स्थान पर निर्मित मसजिदें आदि मौजूद हैं, जैसे कि दिल्ली में कुतुबमीनार, अजमेर में इन्द्रकोट आदि स्थानों की मसजिदें, जूनागढ़ के किले में, प्रभास पाटन में रांदेर, भरूच में, पंजाब इत्यादि भारत के अनेक स्थानों में जैन मन्दिरों को तोड़ कर उन पर मसजिदें खड़ी हैं।

उस महा प्रलयंकारी अत्याचारों से डरे हुए जैन लोग किसी अन्य को पुस्तक नहीं दिखलाते और इन्हें गुप्त भंडारों में बन्द करके रख छोड़ा है।

१४६ प्र०—इस काल में भी जैन लोग जो अपने शास्त्र आदि ग्रन्थों को दूसरों को दिखलाना पसन्द नहीं करते, उनका यह कार्य उचित है या अनुचित ?

उ०—अपने शास्त्रों को जैन लोग बड़े यत्न पूर्वक सुरक्षित रखते हैं यह कार्य तो उनका बड़ा प्रशंसनीय है। परन्तु जैसलमेर में जो भंडार के आगे पत्थर की भींत लगा कर उसे एक दम बंद कर छोड़ा है और कोई उसकी सार संभाल नहीं लेता। क्या जाने उन शास्त्रों की क्या अवस्था होगी ? कौन जानता है कि ग्रन्थ जर्जरित होकर नष्ट हो रहे हैं अथवा कुछ शेष बचे हैं ? इसके लिये तो हम इस समय के जैनों को बहुत मूर्ख समझते हैं।[1]

१—प्रसन्नता का विषय है कि इस पुस्तक के रचियता स्व० आचार्य भगवान् की इस मार्मिक हार्दिक वेदना को लक्ष में रख कर उनके पट्ट प्रभावक स्व० आचार्य महाराज श्री मद्विजय वल्लभ सूरि जी के आज्ञानुवर्ती जैन आगम दिवाकर मुनिराज श्री पुण्य विजय जी महाराज ने इस जैसलमेर भंडार का उद्धार किया है।

१४७ प्र०—क्या जैनों के पास धन का अभाव है जिससे वे लोग अपने धर्म के ऐसे उपयोगी और अति उत्तम ग्रन्थों का उद्धार नहीं करवाते ?

उ०—इनके पास धन की कमी तो नहीं है—धन तो बहुत है, परन्तु इस काल में जैनों की दो इन्द्रियाँ बहुत ही प्रबल हो गयी हैं ! इस लिये इन ज्ञान भंडारों की कोई भी चिंता नहीं करता।

१४८ प्र०—ये दोनों इन्द्रियां कौनसी हैं जो इनका उद्धार नहीं होने देतीं ?

उ०—एक नाक और दूसरी जिह्वा। क्योंकि नाक के वास्ते अर्थात् अपनी नामवरी के लिये लाखों रुपये लगा लगा कर जैन मंदिर बनवाते चले जा रहे हैं और जिह्वा के लिये खाने में लाखों रुपये खर्च करते रहते हैं—चूरमे आदि लड्डुओं की खूब खबर ली जाती है किन्तु जीर्ण शास्त्र भंडारों का उद्धार करने के लिये क्या जाने इनको स्वप्न में भी ध्यान क्यों नहीं आता।

१४९ प्र०—क्या जिन मंदिर बनवाने और साहम्मिवच्छल (साधर्मीवात्सल्य) करने में पाप है ? जो आप इन्हें

सब शास्त्रों को व्यवस्थित कर उनका आधुनिक पद्धति से सूचीपत्र (Catalogue) तैयार किया है। जर्जरित ग्रंथों को जोड़ जोड़ कर उनको प्रतिलिपियां करवा कर सुरक्षित करने का भगीरथ प्रयत्न भी किया है। इस भंडार में से जो अलभ्य ग्रन्थ मिले हैं उनका संपादन कर प्रकाशन की व्यवस्था भी की है। तथा-पाटन, अहमदाबाद, बीकानेर आदि के अनेक जैन शास्त्र भंडारों का भी उद्धार किया है।

करने का निषेध करते हैं ?

उ०—जिन मंदिर बनवाने का और साहम्मिवच्छल करने का फल तो स्वर्ग और मोक्ष है। परन्तु जिनेश्वर प्रभु ने तो ऐसा कहा हैं कि जिस समय जो धर्म क्षेत्र बिगड़ता हो उसकी सार सम्भाल प्रथम करनी चाहिये । इस काल में ज्ञान भंडारों को क्षति पहुंच रही है, इसलिये पहले इनका उद्धार करना परमावश्यक है। जिन मंदिर तो फिर भी बन सकते हैं किन्तु यदि शास्त्र जाते रहे तो फिर कौन बना सकेगा।

१५० प्र०—जिन मंदिर बनवाने और साहम्मिवच्छल करने के लिये क्या बात लक्ष्य में रखनी चाहिये ?

उ०—जिस गांव या शहर के लोग जिन मार्ग के भक्त हों और जिन मंदिर न हो अथवा जहां के लोग धनहीन हों और जिन मंदिर न बना सकें उस जगह अवश्य जिन मंदिर बनवाना चाहिये।

यदि श्रावक धनहीन हो, उसे किसी रोजगार में लगा देवें जिस से वह अपने कुटुम्ब का पोषण भली भांति कर सके। अथवा उसके जिस किसी कार्य में क्षति पहुंच रही हो उसमें उस की सहायता करे, यह साहम्मिवच्छल है। परन्तु इस पर से यह बात कदापि न समझ लेना कि हम किसी जगह जिन मंदिर बनवाने और बनिये लोगों को जिमाने रूप साहम्मिवच्छल का निषेध करते हैं।

हां! अपनी नामवरी के लिये जिन मंदिर बनवाने में अल्प फल कहते हैं तथा इस गांव या शहर के बनियों ने उस गांव या शहर के बनियों को जिमाया और उस गांव वालों ने इस गांव के बनियों को जिमाया परन्तु साहम्मि (साधर्मी भाई) को

सहायता करने की बुद्धि से नहीं तो हम इसे साहम्मिवच्छल नहीं कहते, इसे तो हम गधे खुरकनी (एक गधे को दूसरे ने खुजला दिया और दूसरे ने उसे खुजला दिया) मानते हैं।

१५१ प्र०—आपने जैन धर्म का जैसा स्वरूप बतलाया है इससे तो यह धर्म हमें बहुत उत्तम प्रतीत होता है, तो फिर यह बहुत क्यों नहीं फैला ?

उ०—जैन धर्म के नियम ऐसे कठिन हैं कि उन पर अल्प शक्ति वाले जीव अधिक नहीं चल सकते। गृहस्थ धर्म और साधु धर्म बहुत नियमों से नियंत्रित है। तथा जैन धर्म का तत्त्व तो बहुत जैन लोग भी नहीं जान सकते, अन्य मतवालों के लिये तो समझना बहुत ही कठिन है।

बौद्ध मत के गोविंदाचार्य ने भरूच में जैनाचार्य से चर्चा में हार खायी, तब जैन के तत्त्वों को जानने के लिये कपट से जैन धर्म की दीक्षा ग्रहण की; कितनेक जैन धर्म के शास्त्रों को पढ़ा और फिर बौद्ध बन गया और दूसरी बार जैनाचार्यों के साथ चर्चा करके जैन धर्म के खण्डन करने के लिये कमर कसी तो भी हार गया। फिर जैन दीक्षा ली, फिर जैन शास्त्रों को पढ़ा, फिर जैन दीक्षा छोड़ी और जैनाचार्यों से चर्चा की, फिर हारा। इस प्रकार पुनः पुनः जैन दीक्षा ग्रहण करता और छोड़ता, चर्चा करता और हार जाता। इस प्रकार कितनी बार जैन शास्त्र पढ़े परन्तु उनके तत्त्व को न समझ सका। पिछली बार जब तत्त्व को पाया तो फिर बौद्ध नहीं बना।

जैन धर्म को समझना और पालना दोनों प्रकार से कठिन है। कम बुद्धि वाला और कम सत्त्व (शक्ति) वाला तो इसे समझने पालने में असमर्थ ही रहता है और जगत् में विचक्षण और

सत्वशाली पुरुष तो अल्प ही होते हैं। इसलिये यह अधिक नहीं फैला है। किसी समय अधिक भी अवश्य फैला होगा, इसका निषेध नहीं है।

इसी तरह मीमांसा के वृत्तिकार कुमारिलभट्ट और किरणावली के कर्त्ता उदयन ने भी कपट से जैन दीक्षा ग्रहण की थी, परन्तु तत्त्व को प्राप्त न कर सके।

१५२ प्र०—जैन धर्म में जो चौदह पूर्व कहे जाते हैं—वे कितने बड़े थे और उनमें क्या-क्या कथन था? इसका संक्षेप से स्वरूप कथन करें।

उ०—तीर्थ का प्रवर्तन करते समय तीर्थंकर भगवान् जिस अर्थ का गणधरों को पहले पहल उपदेश देते हैं अथवा गणधर पहले पहल जिस अर्थ को सूत्र रूप गूंथते हैं उन्हें पूर्व कहते हैं। पूर्व चौदह हैं :—

(१) उत्पाद पूर्व—इस पूर्व में सभी द्रव्यों और सभी पर्यायों के उत्पाद से लेकर प्ररूपणा की गयी है। उत्पाद पूर्व के एक करोड़ पद हैं जो एक हाथी जितने स्याही के ढेर से लिखे जावे।

(२) अग्रायणीय पूर्व—इस पूर्व में सभी द्रव्यों, सभी पर्यायों और सभी जीवों के परिमाण का वर्णन है। अग्रायणीय पूर्व में छयानवे लाख पद हैं जो दो हाथी जितने स्याही के ढेर से लिखे जावें।

(३) वीर्य प्रवाद पूर्व—इस पूर्व में कर्म सहित और विना कर्म वाले जीवों तथा अजीवों के वीर्य (शक्ति) का वर्णन है। वीर्य प्रवाद पूर्व में सत्तर लाख पद हैं जो चार हाथी जितने स्याही के ढेर से लिखे जावें।

(४) अस्तिनास्ति प्रवाद पूर्व—संसार में धर्मास्तिकाय आदि

जो वस्तुएँ विद्यमान हैं तथा खर शृङ्गादि जो अविद्यमान हैं उन सब का वर्णन है अथवा सब वस्तुएँ अपने स्वरूप से अस्ति रूप हैं और पर स्वरूप से नास्ति रूप हैं, ऐसा वर्णन है। इसमें साठ लाख पद हैं जो आठ हाथी जितने स्याही के ढेर से लिखे जावें।

(५) ज्ञान प्रवाद पूर्व—इसमें मतिज्ञान आदि ज्ञान के पांच भेदों का विस्तृत वर्णन है, इस में एक कम एक करोड़ पद हैं जो सोलह हाथी जितने स्याही के ढेर से लिखे जावें।

(६) सत्य प्रवाद पूर्व—इस में सत्य, संयम, वचन इन तीनों का विस्तृत वर्णन है। इसमें छः अधिक एक करोड़ पद हैं जो बत्तीस हाथी जितने स्याही के ढेर से लिखे जावें।

(७) आत्म प्रवाद पूर्व—इस में सात सौ नय के मतों की अपेक्षा आत्मा का प्रतिपादन किया गया है। इस में छब्बीस करोड़ पद हैं जो चौसठ हाथी जितने स्याही के ढेर से लिखे जावें।

(८) कर्म प्रवाद पूर्व—इस में ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों का निरूपण प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशादि भेदों द्वारा विस्तृत रूप से किया गया है। इसके एक करोड़ अस्सी हज़ार पद हैं जो एक सौ अठाईस हाथी जितने स्याही के ढेर से लिखे जावें।

(९) प्रत्याख्यान प्रवाद पूर्व—इस में प्रत्याख्यानों का भेद प्रभेद पूर्वक विस्तार वर्णन है। इसमें चौरासी लाख पद हैं जो दो सौ छप्पन हाथी जितने स्याही के ढेर से लिखे जावें।

(१०) विद्यानुवाद पूर्व—इस में विविध प्रकार की अतिशय वाली चमत्कारी विद्याओं और सिद्धियों का वर्णन है। इस में एक करोड़ दस लाख पद हैं जो पांच सौ बारह हाथी जितने स्याही के ढेर से लिखे जावें।

(११) अवंध्य पूर्व—इस में ज्ञान, तप, संयम आदि शुभ फल वाले तथा प्रमादादि अशुभ फल वाले कार्यों का वर्णन है। इस में छब्बीस करोड़ पद हैं जो एक हजार चौबीस हाथी जितने स्याही के ढेर से लिखे जावें।

(१२) प्राणायु प्रवाद पूर्व—इस में दस प्राण और आयु आदि का भेद प्रभेद पूर्वक विस्तृत वर्णन है। इस के एक करोड़ छप्पन लाख पद हैं जो दो हजार अड़तालीस हाथी जितने स्याही के ढेर से लिखे जावें।

(१३) क्रिया विशाल पूर्व—इस में कायिकी आदि क्रियाएँ, संयम में उपकारक क्रियाओं तथा छंदादि क्रियाओं का वर्णन है। इस में नौ करोड़ पद हैं जो चार हजार छयानवे हाथी जितने स्याही के ढेर से लिखे जावें।

(१४) लोक बिन्दुसार पूर्व—लोक में अर्थात् संसार में श्रुत ज्ञान में जो शास्त्र बिन्दु की तरह सब से श्रेष्ठ है वह लोक बिन्दु सार है। इस में साढे बारह करोड़ पद हैं जो आठ हजार एक सौ बानवे हाथी जितने स्याही के ढेर से लिखे जावें।

उत्पाद पूर्व में दस वस्तु और चार चूलिका वस्तु हैं। अग्राय-णीय पूर्व में चौदह वस्तु और बारह चूलिका वस्तु हैं। वीर्य प्रवाद में आठ वस्तु और आठ चूलिका वस्तु हैं। अस्तिनास्ति प्रवाद पूर्व में अठारह वस्तु और दस चूलिका वस्तु हैं। ज्ञान प्रवाद पूर्व में बारह वस्तु हैं। सत्य प्रवाद पूर्व में दो वस्तु हैं। आत्म प्रवाद पूर्व में सोलह वस्तु हैं। कर्म प्रवाद पूर्व में तीस वस्तु हैं। प्रत्याख्यान पूर्व में बीस। विद्यानुप्रवाद पूर्व में पन्द्रह। अवन्ध्य पूर्व में बारह। प्राणायु पूर्व में तेरह। क्रिया विशाल पूर्व

में तीन। लोक बिन्दुसार पूर्व में पच्चीस। चौथे से आगे पूर्वों में चूलिका वस्तु नहीं हैं।

१५३ प्र०—जैन धर्म के पांच परमेष्ठियों के स्थान पर अन्य नवीन और प्राचीन मतावलंबियों ने अपनी कल्पना बुद्धि से किस प्रकार कल्पना की है ? तथा जैन इस लोक की व्यवस्था कैसी मानते हैं और उसके लिये क्या हेतु देते हैं ?

उ०—अन्य मतावलम्बियों ने जैन धर्म के पंचपरमेष्ठियों के स्थान पर निम्न प्रकार से झूठी कल्पना की है :—

	धर्म-मत का नाम	१	२	३	४	५
१	जैन धर्म	अरिहंत	सिद्ध	आचार्य	उपाध्याय	साधु
२	सांख्य मत	कपिल	०	आसुरी	विद्या पाठक	सांख्य साधु
३	वैदिक मत	जैमिनि	०	भट्ट प्रभाकर	विद्या पाठक	०
४	नैयायिक मत	गौतम	एक ईश्वर	आचार्य नैयायिक	न्याय पाठक	साधु
५	वेदांत मत	व्यास	एक ब्रह्म	आचार्योक्ति	वेदांत पाठक	परमहंसादि
६	वैशेषिक मत	शिव	एक ईश्वर	कणाद	पाठक	साधु

	धर्म-मत का नाम	१	२	३	४	५
७	यहूदी मत	मूसा	एक ईश्वर	अनेक	पाठक	उपदेशक
८	ईसाई मत	ईसा (क्राईस्ट)	एक ईश्वर	पत्थर समस्त्यादि	पाठक	पादरी
९	मुसलमान	मुहम्मद	एक ईश्वर	अनेक	पाठक	फकीर
१०	शंकर मत	शंकर	एक ब्रह्म	आनंदगिरि आदि	शंकर भाष्यादि पाठक	गिरिपुरी भारती आदि
११	रामानुज मत	रामानुज	एक ईश्वर रामचंद्र	अनेक	रामानुज मत पाठक	साधु वैष्णव
१२	वल्लभ मत	वल्लभाचार्य	एक ईश्वर कृष्ण	अनेक	वल्लभ मत पाठक	इस मत के साधु नहीं होते

	धर्म-मत का नाम	१	२	३	४	५
१३	कबीर मत	कबीर	एक ईश्वर	अनेक	कबीर मत पाठक	गृहस्थ व साधु
१४	नानक मत	नानक	एक ईश्वर	अनेक	ग्रंथ पाठक	उदासी साधु
१५	दादू मत	दादू	एक ईश्वर	सुन्दर दास आदि	इस के ग्रंथ पाठक	दादू पंथी साधु
१६	गोरख मत	गोरखनाथ	एक ईश्वर	अनेक	इस के ग्रन्थ पाठक	कानफटे जोगी
१७	स्वामी नारायण	स्वामी नारायण	एक ईश्वर	स्त्री और परिग्रहधारी	इस के ग्रन्थ पाठक	रंगे और सफेद वस्त्रों वाले
१८	दयानन्द मत	दयानन्द	एक ईश्वर	अस्ति	इस मत के पाठक	साधु

जैन धर्म के पांच परमेष्ठियों के मुकाबिले में, अन्य मतावलम्बियों ने उपर्युक्त प्रकार से पांच-पांच वस्तुओं की कल्पना की है। जैन दर्शन ने सृष्टि को प्रवाह से अनादि अनन्त माना है। इसकी मान्यता है कि इस सृष्टि के कर्ता न तो पंचपरमेष्ठियों में से कोई है और न कोई अन्य सर्वज्ञ वीतराग ईश्वर है। लोगों ने अज्ञान-भ्रम से सृष्टि कर्ता की कल्पना करली है।

यदि कोई यह प्रश्न करे कि यदि सर्वज्ञ वीतराग ईश्वर जगत् का कर्ता नहीं है तो यह जगत् अपने आप कैसे उत्पन्न हुआ? क्योंकि हम देखते हैं कर्ता के बिना कुछ भी उत्पन्न नहीं होता जैसे घडी, मकान आदि छोटी मोटी चीजें बिना किसी के बनाये नहीं बनीं तो फिर सम्पूर्ण जगत् जो कार्य रूप दिखाई देता है, उसका भी उत्पादक कोई अवश्य होना चाहिये ?

उत्तर—इस जगत् में जो-जो वस्तु बनाई हुई है उसका कर्त्ता तो हम भी मानते हैं—जैसे घड़ा, कपड़ा, घड़ी, मकान, दुकान, हवेली इत्यादि और ये सब वस्तुएँ मनुष्य द्वारा निर्मित प्रत्यक्ष दीख पड़ती हैं। परन्तु आकाश, काल, स्वभाव, परमाणु, जीव (आत्मा) इत्यादि वस्तुएँ किसी की बनाई हुई नहीं हैं। क्योंकि सर्व विद्वानों का मत है कि जो कार्य रूप उत्पन्न होता है उसका उपादान (मूल) कारण अवश्य होना चाहिये । जैसे घड़े का उपादान (मूल) कारण मिट्टी है क्योंकि घड़े की उत्पत्ति मिट्टी से होती है और वैसे उसका नाश भी मिट्टी में ही होता है अर्थात् घड़ा फूट कर वापिस मिट्टी में मिल जाता है। वैसे आकाश, काल, स्वभाव, परमाणु, आत्मा इत्यादि वस्तुएँ कब उत्पन्न हुईं, किसे में से हुईं इस विषय में कोई कुछ नहीं बतला सकता क्योंकि इन का कोई उपादान कारण नहीं है । बिना उपादान के कदापि कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। जो कोई बिना

नियति, पूर्व कर्म और उद्यम। इन पांच कारणों के सिवाय अन्य कोई भी अंकुर पैदा करने वाला ईश्वर सिद्ध नहीं होता।

मनुष्य गर्भ में उत्पन्न होता है, उसके लिये भी पांचों ही कारणों की आवश्यकता है। १—गर्भ धारण के काल में ही गर्भ रहे, २—गर्भ के स्थान का स्वभाव गर्भ धारण करने का हो तभी गर्भ रहे, ३—यदि गर्भ धारण में जैसी चाहिये वैसी निर्विघ्नता होगी तभी रहेगा, ४—यदि जीव ने पूर्व जन्म में मनुष्य होने के कर्म किये हैं तभी मनुष्य रूप में उत्पन्न हो सकता है, ५—माता पिता का उद्यम तथा कर्म का आकर्षण न हो तो भी कदाचित् गर्भ उत्पन्न न हो।

इसी प्रकार जो भी वस्तु जगत् में उत्पन्न होती है सो इन्हीं पांचों निमित्त कारणों से और उपादान कारणों से होती है।

पृथ्वी प्रवाह से सदा रहेगी तथा पर्याय से तो सदा नाश और उत्पन्न होती रहती है क्योंकि सदा असंख्य जीव पृथ्वी रूप में उत्पन्न होते हैं और मरते हैं। उन जीवों के शरीरों के पिंड ही पृथ्वी रूप में उत्पन्न होते हैं और मरते हैं। उन जीवों के शरीरों का पिंड ही पृथ्वी है।

यदि कोई यह कहे कि कार्य रूप होने से पृथ्वी एक दिन तो अवश्य ही सर्वथा नाश होगी—घट के समान; तो इसका उत्तर यह है कि जैसा कार्य घट है वैसा कार्य पृथ्वी नहीं है, क्योंकि घट में [illegible] ने उत्पन्न होने वाले नवीन परमाणु नहीं आते किंतु पृथ्वी [illegible] पृथ्वी शरीर वाले नये जीव असंख्य उत्पन्न होते रहते [illegible] पहले वाले जीव नाश होते रहते हैं। उन असंख्य जीवों [illegible] मिलने और बिछुड़ने से पृथ्वी वैसे ही रहेगी जैसे [illegible] आगे-आगे का चला जाता है और नवीन

नवीन आता रहता है जिस से नदी वैसी ही रहती है। इस लिये घट रूप कार्य समान पृथ्वी नहीं है। यही कारण है कि पृथ्वी सदा ही रहेगी और उस पर जो रचनाएँ होती रहती हैं वे उपर्युक्त पाँचों ही कारणों से सदा होती रहेंगी। इसलिये पृथ्वी अनादि अनन्त काल तक रहेगी तथा इससे यह भी स्पष्ट है कि पृथ्वी का कर्त्ता ईश्वर नहीं है।

कई भोले लोग—मनुष्य, पशु, पृथ्वी, पवन, वनस्पति, चन्द्र, सूर्य आदि को देखकर तथा मनुष्यों और पशुओं के शरीर की हड्डियों की रचना, आंख के परदे, खोपड़ी के टुकड़े, नसें, जालादि शरीर की विचित्र रचना देखकर हैरान हो जाते हैं और जब कुछ आगा पीछा नहीं सूझता तब हतबुद्धि होकर झट यह कह देते हैं:—"यह रचना ईश्वर के विना कौन कर सकता है। ऐसा विचार मन में आने से वे ईश्वर कर्ता-कर्ता कहने लग जाते हैं।

परन्तु जगत् कर्त्ता ईश्वर मानने से वे ईश्वर की ही मिट्टी पलीद कर देते हैं, इस बात का विचार किंचित् भी नहीं करते। जैसे कानी हथिनी एक तरफ़ की बेलों को खाती है परन्तु दूसरी आंख न होने से दूसरी तरफ़ की बेलों को नहीं देख पाने से उसे इस बात का ज्ञान ही नहीं हो पाता कि दूसरी तरफ़ भी बेलें हैं, वैसे ही वे भोले जीव भी इस बात का विचार नहीं करते कि ईश्वर को जगत का कर्त्ता मानने से ईश्वर में ईश्वरपना ही नहीं रहता।

उन भोले जीवों ने यदि आठ कर्म और उन कर्म प्रकृतियों के १४८ भेद जाने होते तो अपने बेचारे ईश्वर को जगत् कर्त्ता मान कर व्यर्थ में ईश्वर के ईश्वरत्व की हानि करके उसे क्यों

कलंकित करते।

क्योंकि जो-जो कल्पनाएँ भोले लोगों ने ईश्वर में की हैं वे सब कर्म द्वारा सिद्ध होती हैं।

१५४ प्र०—कर्म किसे कहते हैं? आठ कर्म कौन से हैं और उनके १४८ भेद कौन से हैं? उन्हें समझाने की कृपा करें।

उ०—यहां पर संक्षेप रूप से कर्मों का स्वरूप लिखते हैं। यदि विशेष रूप से जानने की इच्छा हो तो षट् कर्म ग्रन्थ, कर्म प्रकृति प्राभृत, पंचसंग्रह, शतक इत्यादि ग्रंथों को देख लेना चाहिये।

जैन धर्म में कर्म किसे कहते हैं उसका स्वरूप लिखते हैं :—

शरीर में तैल लगा कर कोई धूली में लौटे तो धूली उसके शरीर पर चिपक जाती है और मैल रूप बन जाती है। उसी प्रकार १—जीवहिंसा, २—झूठ, ३—चोरी, ४—मैथुन, ५—परिग्रह, ६—क्रोध, ७—मान, ८—माया, ९—लोभ, १०—राग, ११—द्वेष, १२—कलह, १३—अभ्याख्यान, १४—पैशुन्य १५—परपरिवाद, १६—रति-अरति, १७—मायामृषावाद, १८—मिथ्यादर्शन शल्य रूप जो अन्तःकरण के परिणाम हैं वे तैलादि के चिकनेपन के समान हैं। इन अन्तःकरण के परिणामों के कारण आत्मा में जो परिस्पंद होता है—अर्थात् हलचल होती है तब, जिस आकाश प्रदेश में आत्मा के प्रदेश हैं, वहीं के अनन्त-अनन्त कर्म योग्य पुद्गल परमाणु, जीव के एक-एक प्रदेश के साथ बन्ध जाते हैं। इस प्रकार जीव और कर्म का आपस में बन्ध होता है। दूध और पानी का तथा आग और लोहे के गोले का जैसे सम्बन्ध होता है उसी प्रकार जीव और पुद्गल का सम्बन्ध हो जाता है। इसमें जो जड़ रूप पुद्गल

मिलता है उसे वासना रूप कार्मण शरीर कहते हैं। इसी शरीर को जैन शास्त्रों में कर्म कहते हैं।

कर्म और जीव का प्रवाह रूप से अनादि काल से संयोग सम्बन्ध चला आरहा है। इस शरीर में असंख्य प्रकार की पुण्य-पाप रूप कर्म प्रकृतियां समा रही हैं। पुराने कर्म अपना फल देकर आत्म-प्रदेशों से जुदे हो जाते हैं और नये कर्म प्रति समय बन्धते रहते हैं।

जैन दर्शन में जिस अर्थ के लिये कर्म शब्द प्रयुक्त होता है उस अर्थ के अथवा उस से कुछ मिलते जुलते अर्थ के अनेक जैनेतर दर्शनों में ये शब्द मिलते हैं :—

सांख्य दर्शन वाले प्रकृति कहते हैं, वेदान्त दर्शन माया, अविद्या कहते हैं, न्याय और वैशेषिक दर्शन अदृष्ट-धर्माधर्म-संस्कार कहते हैं, बौद्ध दर्शन वाले वासना कहते हैं, कई मत वाले क्रियमान संचित प्रारब्ध रूप भेद करते हैं। जितने दर्शन आत्मवादी हैं और पुनर्जन्म मानते हैं, उनको पुनर्जन्म की सिद्धि के लिये कर्म मानना ही पड़ता है।

ऐसा होने पर भी विना समझ के लोग इन कर्मों को ईश्वर की लीला-कुदरत कहते हैं। इसलिये जैन दर्शन के सिवाय कोई भी अन्य मतावलम्बी इन कर्मों के यथार्थ स्वरूप को नहीं जानता। इसका कारण यह है कि इनके मत में कोई सर्वज्ञ नहीं हुआ जो कि कर्मों के यथार्थ स्वरूप का कथन करता। इस लिये लोग भ्रम-अज्ञान के वशीभूत होकर मनमाने ऊटपटांग पथ चला रहे हैं।

इसलिये आत्म कल्याण के इच्छुक भव्य जीवों के जानने के लिये आठ कर्मों का संक्षिप्त स्वरूप लिखते हैं :—

कर्म आठ हैं :—१—ज्ञानावरणीय, २—दर्शनावरणीय, ३—वेदनीय, ४—मोहनीय, ५—आयु, ६—नाम, ७—गोत्र, ८—अन्तराय।

अब आठ कर्मों की उत्तर प्रकृतियां क्रमशः कहते हैं :—

(१) ज्ञानावरणीय कर्म—वस्तु के विशेष अवबोध को ज्ञान कहते हैं। आत्मा के ज्ञानगुण को आच्छादित करने वाला कर्म ज्ञानावरणीय कहलाता है। जिस प्रकार आंख पर कपड़े की पट्टी लपेटने से वस्तुओं को देखने में रुकावट पड़ती है उसी प्रकार ज्ञानावरणीय कर्म के प्रभाव से आत्मा को पदार्थ ज्ञान करने में रुकावट पड़ती है। यहां पर यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिये-यद्यपि ज्ञानावरणीय कर्म से ज्ञान आच्छादित होता है, पर यह कर्म आत्मा को सर्वथा ज्ञान-शून्य (जड़) नहीं बना देता। जैसे सघन बादलों से सूर्य के ढक जाने पर उसका इतना प्रकाश अवश्य रहता है कि दिन रात का भेद समझा जा सके। इसी प्रकार चाहे कैसा प्रगाढ़ ज्ञानावरणीय कर्म क्यों न हो पर उसके रहते हुए भी आत्मा में इतना ज्ञान तो अवश्य रहता है कि वह जड़ पदार्थों से पृथक् किया जा सके।

ज्ञानावरणीय कर्म के पांच भेद हैं ;—

१—मति-ज्ञानावरणीय-कर्म :—मन और इन्द्रियों के द्वारा जो ज्ञान होता है, उसे मति ज्ञान कहते हैं। इस मति ज्ञान के ३३६ अथवा ३४० भेद हैं। (विस्तार से जानने की इच्छा वाले कर्म ग्रन्थ की वृत्ति से जान लें) इन ज्ञान भेदों को आवरण करने वाला कर्म मतिज्ञानावरणीय कर्म कहलाता है। जिस जीव के इस कर्म का आवरण पतला होता है उस जीव की बुद्धि निर्मल होती है। जैसे-जैसे कर्म का आवरण हीनाधिक होता है वैसे-

वैसे बुद्धि की भी हीनाधिकता होती है। यद्यपि मतिज्ञान मति-ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम से होता है तथापि उस क्षयो-पशम के मस्तक, सिर, विशाल मस्तक में मज्जा, चरबी, चिकनाहट, मांस, रुधिर, नीरोग हृदय, निरुपद्रव दिल तथा सूंठ, ब्राह्मी, वच, घृत, दूध, शक्कर इत्यादि वस्तुओं के खान पानादि से अधिक-अधिकतर हृष्ट पुष्ट शरीर निमित्त हैं, एवँ शील, सन्तोष, महाव्रतादि, कर्तव्य पालन, पठन करने वाला विद्वान् गुरु, देश, काल, श्रद्धा, उत्साह, परिश्रमादि ये सब मति ज्ञानावरण के क्षयोपशम होने के कारण हैं। जैसे-जैसे जीवों को कारण मिलते हैं वैसी-वैसी जीवों की बुद्धि होती है। इस ज्ञान को आच्छादन-आवरण करने वाला कर्म मति ज्ञानावरणीय कहलाता है। इत्यादि विचित्र प्रकार से मति-ज्ञानावरणीय के भेद हैं।

२—श्रुत-ज्ञानावरणीय-कर्म :—

गुरु से सुन कर जो ज्ञान हो तथा जिसके बल से दूसरों को शब्दों द्वारा कथन किया जावे उसे श्रुतज्ञान कहते हैं। यह श्रुत-ज्ञान मतिज्ञान पूर्वक होता है। मतिज्ञान कारण और श्रुतज्ञान कार्य है। क्योंकि मतिज्ञान से श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है, इससे इस को मतिपूर्वक कहते हैं। जिस विषय का श्रुतज्ञान करना हो उस विषय का मतिज्ञान पहले अवश्य होना चाहिये। इसी से मति-ज्ञान श्रुतज्ञान का पालन और पूर्ण करने वाला कहलाता है। मति-ज्ञान श्रुतज्ञान का कारण है पर वह बहिरङ्ग कारण, उसका अंतरङ्ग कारण तो श्रुतज्ञानावरणीय का क्षयोपशम है। क्योंकि किसी विषय का मतिज्ञान हो जाने पर भी यदि उक्तक्षयोपशम न हो तो उस विषय का श्रुतज्ञान नहीं हो सकता।

ये दोनों ज्ञान एक साथ ही उत्पन्न होते हैं परन्तु मतिज्ञान विद्यमान वस्तु में प्रवृत्त होता है। इन दोनों में यह भी अन्तर है कि मति ज्ञान में शब्दोल्लेख नहीं होता और श्रुत ज्ञान में होता है।

श्रुतज्ञान के चौदह तथा वीस भेद हैं। पठन-पाठनादि जो अक्षरमय वस्तु का ज्ञान है वह सब श्रुतज्ञान है और इस ज्ञान को आच्छादन-आवरण करने वाला कर्म श्रुतज्ञानावरणीय कर्म है जिसकी तार-तम्यता से श्रुतज्ञान जीवों को विचित्र प्रकार का होता है। इसके क्षयोपशम के वे ही निमित्त हैं जो मतिज्ञानावरणीय के हैं।

३—अवधिज्ञानावरणीय कर्म :—

अवधिज्ञान के भव प्रत्यय और गुण प्रत्यय ऐसे दो भेद हैं। जो अवधिज्ञान जन्म लेते ही प्रगट होता है वह भवप्रत्यय कहलाता है, परन्तु जन्म लेने के बाद जो व्रत, नियमादि गुणों के अनुष्ठान के बल से प्रकट किया जाता है वह गुण प्रत्यय कहलाता है। भव प्रत्यय ज्ञान देवता और नारकियों को होता है और गुणप्रत्यय मनुष्य और तिर्यंच को होता है तथा इसके अनुगामि-अननुगामि आदि छः भेद हैं। इस अवधिज्ञान का आवरण अवधि ज्ञानावरणीय कर्म कहलाता है।

४—मनःपर्याय ज्ञानावरणीय कर्म :—

मन वाले-संज्ञी प्राणी किसी भी वस्तु का चिन्तन मन से करते हैं। चिन्तन के समय चिन्तनीय वस्तु के भेद के अनुसार चिन्तन कार्य में प्रवृत्त मन भिन्न-भिन्न आकृतियों को धारण करता रहता है। वे आकृतियां ही मन के पर्याय हैं और उन मानसिक आकृतियों को साक्षात् जानने वाला ज्ञान मनः पर्याय

ज्ञान है। इस ज्ञान के बल से चिंतनशील मन की आकृतियां जानी जाती हैं पर चिंतनीय वस्तुएँ नहीं जानी जा सकतीं। परन्तु चितनीय वस्तुओं को मनः पर्याय ज्ञानी आकृतियों के ज्ञान द्वारा अनुमान से जान लेता है। इस ज्ञान के ऋजुमति तथा विपुलमति दो भेद हैं। इस ज्ञान को आवरण करने वाला मनः पर्याय ज्ञानावरणीय कर्म है।

५—केवल ज्ञानावरणीय कर्म :—

जिस ज्ञान से सम्पूर्ण द्रव्य और उनके सम्पूर्ण पर्यायों को एक ही साथ जाना जाय उसे केवल ज्ञान कहते हैं। अर्थात् भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान का कोई भी परिवर्तन उनसे छिपा नहीं रहता। इसे निरावरण ज्ञान और क्षायिक ज्ञान भी कहते हैं। इस केवल ज्ञान को आवरण करने वाला केवल ज्ञानावरणीय कर्म है।

मतिज्ञान-श्रुतिज्ञान मनुष्य, तियच, देव तथा नारकी सब जीवों को होता है। अवधिज्ञान भी चारों गतियों के जीवों को होता है। मनः पर्याय ज्ञान और केवलज्ञान पांच महाव्रती मनुष्य को होता है, अन्य को नहीं।

इन पांचों ज्ञानों में से पिछले तीन ज्ञान (महाविदेह क्षेत्र के जीवों के अतिरिक्त) इस काल के जीवों को नहीं होते, सामग्री और साधनों के अभाव से। इस लिये इनका स्वरूप यहां नहीं लिखा। यदि इनका विस्तृत स्वरूप जानने की इच्छा हो तो नंदी आदि सूत्र सिद्धान्तों से जान लेना।

ज्ञानावरणीय कर्म बन्ध के कारण :—

इस कर्म बन्ध के छः कारण हैं—(१) ज्ञानी तथा ज्ञानोपकरण पुस्तकादि का विरोध करना अथवा उसके प्रतिकूल

आचरण करना अर्थात् जिस से ज्ञान और ज्ञानी को हानि पहुंचे ऐसा आचरण करना । (२) गुरु और ज्ञान का गोपन करना अर्थात् जिस गुरु से ज्ञान प्राप्त किया हो उनका नाम न बताना तथा जो ज्ञान प्राप्त किया हो उसे दूसरों का न बतलाना। (३) ज्ञान में अन्तराय देना अर्थात् रुकावट डालना अथवा ज्ञानवान् तथा ज्ञानोपकरणों का शस्त्र अग्नि आदि से नाश करना (४) ज्ञानी और ज्ञानोपकरणों पर द्वेष करना, अन्तरङ्ग अरुचि, मात्सर्य अथवा ईर्ष्या करना । (५) ज्ञान एवं ज्ञानी की आशातना करना अथवा पढ़ने पढ़ाने वालों को अन्न, वस्त्र, वस्ती (रहने के लिये स्थान) देने का निषेध करना । पढ़ने-पढ़ाने वालों के पढ़ने में बाधा डालना अथवा उन्हें अन्य काम में लगाना । बातों में उनका समय नष्ट करना । (६) ज्ञान एवं ज्ञानी के साथ विवाद करना अथवा उन में दोष दिखलाने की चेष्टा करना । ज्ञानवान की अति अवज्ञा करना, उसे कलंक लगाना, यह हीन जाति वाला है इत्यादि मर्म प्रगट करने वाले वचन बोलना, प्राणांत कष्ट देना, आचार्य-उपाध्याय आदि गुरु जनों की अविनय करना, अकाल में स्वाध्याय करना, योगोपधान रहित शास्त्र पढ़ना, अस्वाध्याय में स्वाध्याय करना, ज्ञान के उपकरण को पास में रखते हुए मल-मूत्र करना, ज्ञान के उपकरणों को पग लगाना, ज्ञानोपकरणों सहित मैथुन करना, थूक लगाना, ज्ञान के द्रव्य का नाश करना, नाश करने वाले को मना न करना ।

इन कारणों से जीव पांच प्रकार के ज्ञानावरणीय कर्म का बन्ध करता है । इस कर्म के उदय तथा क्षयोपशम से नाना प्रकार की बुद्धि वाले जीव हैं । महाव्रत, संयम, तप से इस कर्म का सर्वथा क्षय करने से मनुष्य को केवल ज्ञान होता है जिस

से वह सर्व वस्तुओं को जानने वाला होता है।

इति प्रथम ज्ञानावरणीय कर्म का संक्षेप मात्र स्वरूप।

(२) दर्शनावरणीय कर्मः—वस्तु के सामान्य ज्ञान को दर्शन कहते हैं अर्थात् सामान्य रूप से (विशेष रहित) वस्तु के जानने की जो आत्मा की शक्ति है उसे दर्शन कहते हैं। आत्मा की दर्शन शक्ति को ढकने वाला कर्म दर्शनावरणीय कहलाता है। दर्शनावरणीय कर्म द्वारपाल के समान है। जैसे द्वारपाल राजा के दर्शन करने में रुकावट डालता है उसी प्रकार से दर्शनावरणीय कर्म पदार्थों को देखने में रुकावट डालता है अर्थात् आत्मा की दर्शन शक्ति को प्रकट नहीं होने देता।

दर्शनावरणीय कर्म के नव भेद हैं—१—चक्षुदर्शनावरण, २—अचक्षुदर्शनावरण, ३—अवधिदर्शनावरण, ४—केवल दर्शनावरण, ५—निद्रा, ६—निद्रा-निद्रा, ७—प्रचला, ८—प्रचला-प्रचला, ९—स्त्यानगृद्धि।

१—चक्षुदर्शनावरण कर्म—जो कर्म चक्षु (नेत्रों) की शक्ति को आवरण करता है उसे चक्षुदर्शनावरणीय कर्म कहते हैं। इस कर्म के क्षयोपशम होने पर चक्षु द्वारा पदार्थों का जो सामान्य धर्म का ग्रहण होता है उसे चक्षु दर्शन कहते हैं। इस कर्म के क्षयोपशम की विचित्रता से आंख वाले जीवों की आंख द्वारा विचित्र प्रकार का दृष्टि प्रवर्तन होता है। इस कर्म के क्षयोपशम होने में विचित्र प्रकार के निमित्त हैं।

२—अचक्षुदर्शनावरणीय कर्म—जो कर्म चक्षु के सिवा शेष चारों इन्द्रियों (स्पर्शन, रसन, घ्राण, श्रोत्र) तथा मन द्वारा पदार्थों के सामान्य धर्म ग्रहण करने की शक्ति को आवरण

करता है, उसे अचक्षुदर्शनावरणीय कर्म कहते हैं। इस कर्म के क्षयोपशम होने पर स्पर्श पहचानने, रस लेने, सूंघने और सुनने का जो सामान्य ज्ञान है उसे अचक्षुदर्शन कहते हैं। इस कर्म के क्षयोपशम होने में अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग अनेक प्रकार के निमित्त हैं। उन-उन निमित्तों द्वारा इस कर्म का क्षयोपशम जैसा-जैसा जीवों को होता है वैसा-वैसा चारों इन्द्रियों के स्व-स्व विषय में शक्तियां प्रकट होती हैं।

३—अवधिदर्शनावरणीय कर्म—इन्द्रियों और मन की सहायता के बिना—आत्मा को रूपी द्रव्य के सामान्य धर्म का जो बोध होता है उसे अवधिदर्शन कहते हैं। इस अवधिदर्शन को आवरण करने वाला कर्म-अवधि दर्शनावरणीय कर्म कहलाता है।

४—केवल दर्शनावरणीय कर्म—आत्मा द्वारा संसार के सकल पदार्थों का जो सामान्य ज्ञान होता है उसे केवलदर्शन कहते हैं। इस दर्शन को आवरण करने वाला कर्म केवलदर्शनावरणीय कर्म कहलाता है (सामग्री के अभाव से भरतक्षेत्र में अवधिदर्शन-केवलदर्शन इस काल में नहीं होते, इसलिये इन दोनों दर्शनों का विस्तृत विवेचन नहीं किया। यदि इनका विशेष स्वरूप जानने की इच्छा हो तो शास्त्रों में देख लेना)।

५—निद्रा (दर्शनावरणीय) कर्म—जिस निद्रा में सोने वाला सुख पूर्वक धीमी-धीमी आवाज से जाग पड़ता है उसकी नींद को निद्रा कहते हैं। जिस कर्म के उदय से ऐसी नींद आती है उस कर्म का नाम निद्रा-दर्शनावरणीय कर्म है।

६—निद्रानिद्रा (दर्शनावरणीय) कर्म—जिस निद्रा में सोया हुआ जीव बड़ी मुश्किल से जोर-जोर से चिल्लाने वा हाथ

से हिलाने पर जागता है वह निद्रानिद्रा है । जिस कर्म के उदय से ऐसी नींद आवे उस कर्म का नाम निद्रानिद्रा दर्शनावरणीय है।

७—प्रचला-दर्शनावरणीय कर्म—खड़े खड़े या बैठे-बैठे व्यक्ति को जो नींद आती है उस नींद का नाम प्रचला है। जिस कर्म के उदय से ऐसी नींद आती है उस कर्म का नाम प्रचला-दर्शनावरणीय है।

८—प्रचलाप्रचला—(दर्शनावरणीय) कर्म—चलते-फिरते जो नींद आती है वह प्रचला-प्रचला है, जिस कर्म के उदय से यह नींद आती है उसे प्रचला-प्रचला—दर्शनावरणीय कर्म कहते हैं।

९—स्त्यानगृद्धि—(दर्शनावरणीय) कर्म—जिस निद्रा में जीव दिन अथवा रात में सोचा हुआ काम नींद की हालत में ही कर डालता है वह स्त्यानगृद्धि है। जिस कर्म के उदय से ऐसी नींद आती है उसे स्त्यानगृद्धि—दर्शनावरणीय-कर्म कहते हैं । वह नींद वज्र ऋषभ नाराच संहनन वाले को होती है तब उस में वासुदेव का आधा बल होता है। ऐसी निद्रा में मरने वाला जीव यदि आयु न बांध चुका हो तो नरक गति में जाता है।

क्योंकि ये पांचों निद्राएँ पांच इन्द्रियों के ज्ञान की हानि करती हैं, इसलिये दर्शनावरणीय की प्रकृतियां हैं ।

इस कर्म के बांधने के हेतु ज्ञानावरणीय कर्म के समान ही जान लेना, परन्तु ज्ञान के स्थान पर दर्शन पद समझना । तथा दर्शन चक्षु अचक्षु आदि, दर्शनवान् साधु आदि जीव, उनकी पांच इन्द्रियों का बुरा चाहे अथवा नाश करे या सम्मति, तत्त्वार्थ, द्वादशार, नयचक्रवाल तर्कादि दर्शन प्रभावक शास्त्र

इत्यादि ग्रन्थों का प्रत्यनीकपना करने से दर्शनावरणीय कर्म का बन्ध होता है।

(३) वेदनीय कर्म—इसे वेद्यकर्म भी कहते हैं। इसका स्वभाव तलवार की शहद लगी हुई धारा को चाटने के समान है। जो अनुकूल एवं प्रतिकूल विषयों से उत्पन्न सुख दुःख रूप से वेदन अर्थात् अनुभव किया जाय वह वेदनीय कर्म कहलाता है। यों तो सभी कर्मों का वेदन होता है परन्तु साता, असाता अर्थात् सुख दुःख का अनुभव कराने वाले कर्म विशेष में ही वेदनीय रूढ़ हैं। वेदनीय कर्म के दो भेद हैं; १—साता वेदनीय, २—असाता वेदनीय। जिस कर्म के उदय से आत्मा को विषय सम्बन्धी सुख का अनुभव होता है वह साता वेदनीय कर्म है। जिस कर्म के उदय से आत्मा को अनुकूल विषयों की अप्राप्ति से अथवा प्रतिकूल विषयों की प्राप्ति से दुःख का अनुभव होता है, वह असाता वेदनीय कर्म है।

आत्मा को जो अपने स्वरूप के सुख का अनुभव होता है वह किसी भी कर्म के उदय से नहीं है। मधु—लिप्त—खड्ग—धारा का दृष्टांत देकर यह सूचित किया गया है कि वैषयिक सुख-अर्थात् पौद्गलिक जो सुख है वह दुःख से मिला हुआ ही है।

तलवार की धार पर लगे हुए शहद के स्वाद के समान साता वेदनीय है और धार से जीभ के कटने जैसा असाता वेदनीय है।

साता वेदनीय कर्म बांधने के कारण—१—गुरु जनों की सेवा अर्थात् माता, पिता, अपने से बड़ों, विद्या-गुरु तथा धर्माचार्य की भक्ति सेवा करने से। २—क्षमा करना अर्थात् अपने सामर्थ्य के होते हुए दूसरों के अपराध को सहन करते हुए उन्हें क्षमा कर देने से। ३—पर जीवों को दुःखी देखकर उनके दुःख

मिटाने का प्रयत्न करे । ४—पांच महाव्रत, अनुव्रत निदूपण पा ले । ५—दश विध चक्रवाल समाचारी संयम पालने से। ६—क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा इनके उदय आने पर इन्हें निष्फल कर देने से। ७—सुपात्रदान, अभयदान देकर सब जीवों पर उपकार करने से। ८—धर्म से पतित होते प्राणी को स्थिर करे तथा स्वयं भी धर्म में स्थिर रहने से, अर्थात् मरणान्त कष्ट के आने पर भी धर्म से चलायमान न होने से। ९—बाल, वृद्ध, रोगी की वैयावृत्त करते हुए उसे धर्म करने में सहायता करने से। १०—चैत्य जिन प्रतिमा की अच्छी तरह भक्ति करने से। ११—सराग संयम पालने से। १२—देश व्रतिपना पालने से। १३—अकाम निर्जरा से। १४—अज्ञान तप से। १५—शौच, सत्यादि सुन्दर अन्तः-करण की वृत्ति रखने से। १६—प्राणियों पर अनुकम्पा करने से। १७—उन्हें कष्ट न पहुँचाने से। १८—उन्हें शोक न कराने से। १९—उनके शरीर को क्लेश न पहुंचाने से, इत्यादि कारणों से जीव साता वेदनीय कर्म बांधता है।

असाता वेदनीय कर्म बांधने के कारण—साता वेदनीय कर्म बांधने के हेतुओं के विपरीत कार्य करने से जीव असाता वेदनीय कर्म बांधता है।

(४) मोहनीय कर्म—जो कर्म आत्मा को मोहित करता है अर्थात् भले बुरे के विवेक से शून्य बना देता है वह मोहनीय कर्म है। यह कर्म मद्य के सदृश है। जैसे शराबी मदिरा पी कर भले-बुरे का विवेक खो देता है, उसे अपने हित-अहित की पहिचान नहीं रहती, उसी प्रकार मोहनीय कर्म के उदय से आत्मा को अपने हित-अहित के पहिचानने की बुद्धि नहीं

होती। कदाचित् अपने हित-अहित की परीक्षा कर सके तो भी वह जीव, मोहनीय कर्म के प्रभाव से तदनुसार आचरण नहीं कर सकता। इस लिये जीव मोहनीय कर्म के प्रभाव से सत्-असत् के विवेक से रहित होकर पर वश हो जाता है। इस कर्म के मुख्य दो भेद हैं—दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय समकित का घात करता है और चारित्र मोहनीय चारित्र का। १—मिथ्यात्व मोहनीय। २—मिश्र मोहनीय। ३—सम्यक्त्व मोहनीय के भेद से दर्शन मोहनीय तीन प्रकार का है।

चारित्र मोहनीय के मुख्य दो भेद हैं—कषाय मोहनीय और नोकषाय मोहनीय। क्रोध, मान, माया, लोभ ये चार कषाय हैं। अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन के भेद से प्रत्येक चार-चार तरह का है। कषाय मोहनीय के कुल १६ भेद हुए। हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा, स्त्री वेद, पुरुष वेद, नपुंसक वेद ये नव भेद नोकषाय मोहनीय के हैं। इस प्रकार मोहनीय कर्म के कुल मिला कर २८ भेद होते हैं।

अब इन का स्वरूप लिखते हैं—

१—मिथ्यात्व मोहनीय—इस कर्म के उदय से शुद्ध देव, गुरु, धर्म की श्रद्धा नहीं होती। अर्थात् अदेव में देव बुद्धि, कुगुरु में सुगुरु बुद्धि और अधर्म में धर्म बुद्धि आदि आत्मा को विपरीत श्रद्धान होता है।

२—मिश्र मोहनीय कर्म के उदय में आत्मा में कुछ अयथार्थ तत्त्व श्रद्धान होता है। अथवा जिस कर्म के उदय से शुद्ध देव, गुरु, धर्म (जैन धर्म) के ऊपर राग भी न हो तथा द्वेष भी न

हो एवं अन्य मत की भी श्रद्धा न हो।

३—सम्यक्त्व मोहनीय के उदय से तथा दोनों (मिथ्यात्व एवं मिश्र मोहनीय) प्रकृतियों के उपशम अथवा क्षय से अर्थात् दर्शन मोहनीय के क्षयोपशम से आत्मा में जो परिणाम होता है उसे क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन कहते हैं। यह सम्यक्त्व सम्यक्त्व मोहनीय कर्म के उदय से होता है। सम्यग् दर्शन हो जाने पर मति आदि अज्ञान भी सम्यग् ज्ञान रूप में परिणत हो जाते हैं। इस के उदय से शुद्ध देव, गुरु, धर्म की श्रद्धा तो हो जाती है परन्तु सम्यक्त्व में अतिचार लगता रहता है।

४ से ७—अनन्तानुबन्धी-क्रोध, अनन्तानुबन्धी मान, अनन्तानुबन्धी माया, अनन्तानुबन्धी लोभ। ये चारों जहाँ तक जीवित रहें वहाँ तक जीव को रहें, जो किसी उपाय से भी शांत न हों। ४—यह क्रोध ऐसा है जैसे पर्वत के फटने पर दरार होती है और फिर वह कदापि नहीं मिलती। उसी प्रकार जो क्रोध किसी भी प्रकार से शांत नहीं होता, चाहे अपराधी कितनी ही क्षमा याचना करे तो भी क्रोध शांत न हो, वह अनन्तानुबन्धी क्रोध है। ५—मान—जैसे पत्थर का खम्भा अनेक उपाय करने पर भी नहीं नमता, उसी प्रकार जो मान किसी भी प्रकार से दूर न किया जा सके वह अनन्तानुबन्धी मान है। ६—माया—जैसे बांस की कठिन जड़ का टेढ़ापन किसी भी उपाय से दूर नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार जो माया किसी भी प्रकार से दूर न हो अर्थात् सरलता रूप में परिणत न हो, वह अनन्तानुबन्धी माया है। ७—लोभ—जैसे किरमची रङ्ग किसी भी उपाय से नहीं छूटता उसी प्रकार जो लोभ किसी भी उपाय से दूर न हो, वह अनन्तानुबन्धी लोभ है। ये चारों जिस जीव को उदय में हों वह मर कर नरक में जाता है। तथा इस कषाय

के उदय से जीवों को सच्चे देव, गुरु और धर्म की श्रद्धा रूप सम्यक्त्व नहीं होता।

८ से ११—अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ। इनकी स्थिति प्रायः एक वर्ष की है। ये कषाय प्रायः एक वर्ष तक रहते हैं। ८—क्रोध--सूखे तालाब आदि में मिट्टी के फट जाने पर दरार हो जाती है। जब वर्षा होती है तब वह फिर मिल जाती है। उसी प्रकार जो क्रोध विशेष परिश्रम से शांत होता है. वह प्रत्याख्यानावरण क्रोध है। ९—मान–जैसे हड्डी अनेक उपायों से नमती है, उसी प्राकर जो मान अनेक उपायों और अति परिश्रम से दूर किया जा सके वह अप्रत्याख्यानावरण मान है। १०—माया–जैसे मेंढे का टेढ़ा सींग अनेक उपाय करने पर भी बड़ी मुश्किल से सीधा होता है, उसी प्रकार जो माया अत्यन्त परिश्रम से दूर की जा सके वह अप्रत्याख्याना-वरण माया है। ११—लोभ–नगर की मोरी के कीचड़ के दाग समान अथवा गाडी के पहिये के खंजन (कीटा) समान जो अति परिश्रम करने पर अति कष्ट पूर्वक छूटता है। उसी प्रकार जो लोभ अति परिश्रम से कष्ट पूर्वक दूर किया जा सके, वह अप्रत्याख्यानावरण लोभ है। इन कषाय के उदय से देशव्रती (श्रावक) धर्म प्राप्त नहीं होता। इस कषाय वाला जीव मरकर पशु–तिर्यंच की गति में जाता है।

१२ से १५—प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ। इनकी स्थिति प्रायः चार मास की है। १२–बालू में लकीर खेंचने पर कुछ समय में हवा से वह लकीर वापिस भर जाती है, उसी प्रकार जो क्रोध कुछ उपाय से शांत हो वह प्रत्याख्यानावरण क्रोध है। १३—मान–जैसे काष्ठ का थंभा, तैल वगैरह की

मालिश से नम जाता है, उसी प्रकार जो मान थोड़े उपायों से नमाया जा सके वह प्रत्याख्यानावरण मान है। १४—माया-जैसे चलते हुए बैल के मूत्र की टेढ़ी लकीर सूख जाने पर पवन आदि से मिट जाती है, उसी प्रकार जो माया सरलता पूर्वक दूर हो सके, वह प्रत्याख्यानावरण माया है। १५—लोभ-जैसे दीपक का काजल साधारण परिश्रम से छूट जाता है उसी प्रकार जो लोभ कुछ परिश्रम से दूर हो, वह प्रत्याख्यानावरण लोभ है। इस कषाय के उदय से पांच महाव्रत रूप शुद्ध साधु धर्म की प्राप्ति नहीं होती। ऐसे कषाय वाला मरकर मनुष्य गति में जाता है।

१६ से १९—संज्वलन-क्रोध, मान, माया, लोभ। इनकी स्थिति प्रायः एक पक्ष की है। १६—क्रोध पानी में खींची हुई लकीर जैसे खिचने के साथ ही मिट जाती है, उसी प्रकार किसी कारण से उदय में आया हुआ जो क्रोध शीघ्र ही शांत हो जावे, उसे संज्वलन क्रोध कहते हैं। १७—मान-जैसे बैंत बिना मेहनत के सहज ही नम जाती है उसी प्रकार जो मान सहज ही छूट जाता है, वह संज्वलन मान है। १८—माया-छीले जाते हुए बांस के छिलके का टेढ़ापन बिना प्रयत्न के सहज ही मिट जाता है, उसी प्रकार जो माया बिना परिश्रम के शीघ्र ही अपने आप दूर हो जाय, वह संज्वलन माया है। १९—लोभ-जैसे हल्दी का रङ्ग सहज ही छूट जाता है उसी प्रकार जो लोभ आसानी से स्वयं दूर हो जाय, वह संज्वलन लोभ है। इस कषाय वाला जीव मर कर स्वर्ग में जाता है। इस कषाय के उदय से वीतराग अवस्था प्राप्त नहीं होती।

२० से २८—नव नोकषाय—क्रोधादि प्रधान कषायों के

साथ ही जो मानसिक विकार उत्पन्न होते हैं, तथा उन्हीं के साथ फल देते हैं, उन्हें नोकषाय कहते हैं। ये स्वयं प्रधान नहीं होते, परन्तु कषायों के साथ रहते और उन्हीं के साथ फल देते हैं। नव नोकषायों के नाम—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री वेद, पुरुष वेद, नपुंसक वेद। २०-हास्य—जिस कर्म के उदय से मनुष्य सकारण या बिना कारण हँसने लगे, उसे हास्य मोहनीय कर्म कहते हैं। २१—रति—जिस कर्म के उदय से जीव के चित्त में सकारण या अकारण सचित्र या अचित्र बाह्य पदार्थों में रुचि हो, उसे रति मोहनीय कहते हैं। २२—अरति—जिस कर्म के उदय से चित्त में सकारण या अकारण अरुचि उत्पन्न हो उसे अरति मोहनीय कर्म कहते हैं। २३—शोक—जिस कर्म के उदय से इष्ट वियोगादि से चित्त में उद्वेग उत्पन्न हो, शोक अथवा रुदन आदि हो उसे शोक मोहनीय कर्म कहते हैं। २४—भय—जिस कर्म के उदय से इहलोक परलोकादि सम्बन्धी सात प्रकार का भय उत्पन्न हो; उसे भय मोहनीय कर्म कहते हैं। २५—जुगुप्सा—जिस कर्म के उदय से घृणा उत्पन्न हो उसे जुगुप्सा मोहनीय कर्म कहते हैं। २६—स्त्री वेद—जिस कर्म के उदय से पुरुष के साथ विषय सेवन की इच्छा होती है उसे स्त्री वेद मोहनीय कर्म कहते हैं। २७—पुरुष वेद—जिस कर्म के उदय से स्त्री के साथ विषय सेवन करने की इच्छा होती है उसे पुरुष वेद मोहनीय कर्म कहते हैं। २८—नपुंसक वेद—जिस कर्म के उदय से स्त्री पुरुष दोनों के साथ विषय सेवन करने की इच्छा होती है उसे नपुंसक वेद मोहनीय कर्म कहते हैं।

इस प्रकार मोहनीय कर्म के कुल मिला कर २८ भेद होते हैं। अब मोहनीय कर्म बांधने के कारण लिखते हैं:—

हम ऊपर लिख आये हैं कि मोहनीय कर्म के दो भेद हैं :—१—दर्शन मोहनीय। २—चारित्र मोहनीय तथा फिर चारित्र मोहनीय के दो भेद हैं :—१—कषाय मोहनीय, २—नोकषाय मोहनीय। यहाँ इनके क्रमशः बन्ध के कारण लिखते हैं।

१—दर्शन (मिथ्यात्व) मोहनीय कर्म बांधने के कारण :—

१—उन्मार्ग को सन्मार्ग कहने से अर्थात् संसार के हेतु हिंसादिक पापाश्रवों को मोक्ष के कारण कहने से, तथा एकांत नय से केवल क्रिया—कष्टानुष्ठान को मोक्ष प्राप्ति का कारण बतलाने से, एकान्त नय से केवल ज्ञान मात्र को मोक्ष प्राप्ति का कारण बतलाने से, इसी प्रकार अकेले विनयादि से मोक्ष कहने से। २—मार्ग को उन्मार्ग कहने से—अर्थात् अर्हत् भाषित सम्यग् दर्शन—ज्ञान—चारित्र रूप मोक्ष मार्ग में चलने वाले जीव को कुहेतु, कुयुक्ति द्वारा उपर्युक्त मार्ग से भ्रष्ट करने से। ३—देवद्रव्य, ज्ञानद्रव्यादि की सार सम्भाल न रखने से, अर्थात् श्री जिनेश्वर प्रभु के मन्दिर, प्रतिमा आदि का कार्य करते समय वहां के लकड़ी, पत्थर, मिट्टी आदि तथा चांदी, सोनादि धन की चोरी करने अथवा अपने काम में लेने से। मन्दिर आदि की भूमि वगैरह को हड़प लेने से, मन्दिर आदि की वस्तुओं से व्यापार द्वारा अपनी आजीविका चलाने से, देव द्रव्य आदि का नाश करने से, शक्ति के होते हुए देवादि द्रव्य के नाश करने वाले को न हटाने से, इत्यादि कार्य करने वाला मिथ्या दृष्टि है इस लिये मिथ्यात्व (दर्शन) मोहनीय कर्म का बन्ध करता है। ४-तीर्थंकरादि का आवर्णवाद करने से-तीर्थंकर केवली भगवान् का आवर्णवाद बोलने से, निन्दा करने से एवं सद्गुरु तथा जिन प्रतिमा की निन्दा करने से, चतुर्विध संघ (साधु, साध्वी,

श्रावक, श्राविका के श्रुत ज्ञान की निन्दा, अवज्ञा तथा आशातना करने से, अयश, अपमान करने से महा मिथ्यात्व मोहनीय निकाचित कर्म का बन्ध होता है।

२—कषाय चारित्र मोहनीय कर्म बन्ध के कारण :—

कषाय चारित्र मोहनीय कर्म के सोलह भेद हैं। इस का हम ऊपर वर्णन कर आये हैं। यहां उनके बन्ध के कारण लिखते हैं :–अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ करने से सोलह ही प्रकार के कषायों का बन्ध होता है। अप्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ करने से अनन्तानुबन्धी के सिवाय बाकी के बारह कषायों का बन्ध होता है। प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ करने से संज्वलन कषाय का बन्ध होता है।

३—नोकषाय चारित्र मोहनीय कर्म बन्ध के कारण :—

नव कषाय मोहनीय कर्म के नव भेदों का हम ऊपर वर्णन कर आये हैं। अब उनके बन्ध के कारण लिखते हैं :— १—हंसी ठट्ठा करने से, भांड जैसी कुचेष्टाएँ करने से, बहुत बोलने से हास्य मोहनीय का बन्ध होता है। २—देश-देशांतर देखने के रस से, विचित्र क्रीडाओं के रस से, अत्यन्त वाचाल (बातूनी) होने से, कामन–मोहन–टूने आदि करने से, कुतूहल करने से रति मोहनीय कर्म का बन्ध करता है। ३—राज्य भेद से, नवीन राजा स्थापन करने से, परस्पर लड़ाई करने से, दूसरों में अप्रीति (उचाट) उत्पन्न करने से, अशुभ काम करने-कराने में उत्साह रखने से, शुभ कार्यों से उत्साह को भंग करने से, निष्कारण आर्तध्यान करने से अरति मोहनीय कर्म का बन्ध होता है। ४—पर जीवों को त्रास देने से, निर्दयी परिणामों से भय मोहनीय कर्म का बन्ध होता है। ५—पर को शोक-चिंता-

संताप, ताप उपजाने से शोक मोहनीय कर्म का बन्ध होता है। ६—धर्मात्मा साधु-श्रावक जनों की निन्दा करने से, साधु का मल मलीन गात्र देखकर निन्दा करने से जुगुप्सा मोहनीय कर्म का बन्ध होता है। ७—शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श रूप मन-मोहक विषयों में अत्यन्त आसक्त होने से, दूसरों की ईर्ष्या करने से, माया-मृषा का सेवन करने से, कुटिल परिणामी होने से, पर स्त्री गमन करने से जीव स्त्री वेद मोहनीय कर्म का बन्ध करता है। ८—सरलता से, अपनी स्त्री से ही सन्तुष्ट होने से, ईर्ष्या रहित मंद कषाय वाला होने से जीव पुरुष वेद मोहनीय कर्म का बन्ध करता है। ६—तीव्र कषाय से, अन्य मतावलम्बियों तथा अपने मतावलम्बियों का शील भंग करने से, तीव्र विषयी होने से, पशु आदि के घात करने से, मिथ्या दृष्टि जीव नपुंसक वेद मोहनीय कर्म बांधता है।

४—संयमी कोदूषण लगाने से, असाधु की प्रशंसा करने से, कषाय की उदीरणा करने से जीव समुच्चय चारित्र मोहनीय कर्म का बन्ध करता है।

(५) आयु कर्म—जिस कर्म के रहते प्राणी जीता है तथा पूरा होने पर मरता है उसे आयु कर्म कहते हैं। अथवा जिस कर्म से जीव एक गति से दूसरी गति में जाता है, वह आयु कर्म कहलाता है। अथवा अपने किये हुए कर्म से प्राप्त नरकादि दुर्गति से निकलना चाहते हुए भी जीव को जो उसी गति में रोके रखता है उसे आयु कर्म कहते हैं। अथवा जो कर्म प्रति समय भोगा जाय वह आयु कर्म है। अथवा जिस कर्म के उदय आने पर भव विशेष में भोगने लायक सभी कर्म फल देने लगते हैं वह आयु कर्म है।

यह कर्म कारागार के समान है। जिस प्रकार राजा की आज्ञा से कारागार में दिया हुआ पुरुष चाहते हुए भी नियत अवधि से पूर्व वहां से नहीं निकल सकता, उसी प्रकार आयु कर्म के कारण जीव नियत समय तक अपने शरीर में बन्धा रहता है। अवधि पूरी होने पर वह उस शरीर को छोड़ता है परन्तु उसके पहले नहीं[1]।

आयु कर्म के चार भेद हैं :—१—नरक आयु, २—तिर्यंच आयु, ३—मनुष्यायु, ४—देव आयु।

१—आयु दो प्रकार की होती है :—अपवर्त्तनीय और अनपवर्त्तनीय। बाह्य शस्त्रादि निमित्त पाकर जो आयु स्थिति पूर्ण होने के पहले ही शीघ्रता में भोग ली जाती है वह अपवर्त्तनीय आयु है।

२—जो आयु अपनी पूरी स्थिति भोग कर समाप्त होती है, बीच में नहीं टूटती, वह अपनवर्तनीय आयु है। अपवर्तनीय आयु सोपक्रम होती है अर्थात् इस में विष शस्त्रादि का निमित्त अवश्य प्राप्त होता है और उस निमित्त को पाकर जीव नियत समय के पूर्व ही मर जाता है। अनपवर्तनीय आयु सोपक्रम और निरुपक्रम दोनों प्रकार की होती है। सोपक्रम आयु वाले को अकाल मृत्यु योग्य विष शस्त्रादि का संयोग होता है और निरुपक्रम आयु वाले को नहीं होता। विष शस्त्रादि निमित्त का प्राप्त होना उपक्रम है। अपवर्तनीय आयु अधूरा ही टूट जाता है, इस लिये वहां शस्त्रादि की नियमतः आवश्यकता पड़ती है। अनपवर्त्तनीय आयु बीच में नहीं टूटता। उसके पूरा होते समय यदि शस्त्रादि का निमित्त प्राप्त हो जाय तो उसे सोपक्रम कहा जायगा, यदि निमित्त प्राप्त न हो तो निरुपक्रम। (संपादक)

१—जिस कर्म के उदय से जीव नारकी रूप में जन्म लेता है उसे नरकायु कर्म कहते हैं। २—जिस कर्म के उदय से जीव वनस्पति, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि तिर्यंच रूप में जन्म लेता है उसे तिर्यंच आयु कर्म कहते हैं। ३—जिस कर्म के उदय से जीव मनुष्य (स्त्री, पुरुष, नपुंसक) का जन्म लेता है, उसे मनुष्यायु कर्म कहते हैं। ४—जिस कर्म के उदय से जीव देवता का जन्म लेता है उसे देवायु कर्म कहते हैं।

१—नरक आयु कर्म बांधने के कारण :—

१—महारम्भ अर्थात् बहुत प्राणियों की हिंसा हो इस प्रकार तीव्र परिणामों से कषाय पूर्वक प्रवृत्ति करने से। २—चक्रवर्त्ती इत्यादि की ऋद्धि भोगने में महा मूर्छा परिग्रह रखने से। ३—व्रत रहित अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से निःशंक होकर पचेन्द्रिय जीव की हिंसा करने से। ४—मदिरा पीने से, मांस खाने से, चोरी करने से, जुआ खेलने से, परस्त्री और वैश्यागमन करने से, शिकार करने से (अर्थात् सात व्यसनों के सेवन से) कृतघ्नी होने से, विश्वास-घाती, मित्र-द्रोही और उत्सूत्र उपदेश देने से, मिथ्यात्व की महिमा बढ़ाने से,, ५—कृष्ण, नील, कापोत लेश्या से अशुभ परिणामों वाला जीव नरकायु कर्म का बन्ध करता है।

२—तिर्यंचायु कर्म बांधने के कारण :—

१—माया—गूढ़ हृदय वाला अर्थात् जिस के कपट की किसी को खबर न पड़े ऐसा धूर्त, २—निकृति वाला—ढोंग से दूसरों को ठगने की चेष्टा करने वाला अर्थात मुख से मीठा बोले और मन में कैंची रखे यानी मुख में राम बग़ल में छुरी की उक्ति के समान ढोंगी। ३—झूठ बोलने वाला अर्थात् अपने अन्दर गुण

न होते हुए भी अपनी प्रशंसा करने वाला, दूसरों पर झूठे दोष लगा कर उनको निन्दित करने वाला। आर्त्तध्यानी इस लोक में भोग वांछा के लिये तप क्रिया करने वाला। अपनी पूजा महिमा के नष्ट होने के भय से कुकर्म करके गुरु आदि के सामने न कहे इत्यादि ऐसा झूठ बोलने वाला। ४—झूठ तोल—माप वाला अर्थात् कम देने वाला। ५—गुणवान की ईर्ष्या करने वाला, आर्त्तध्यानी, कृष्ण, नील, कपोत इन तीनों मध्यम लेश्या वाला जीव तिर्यंच गति का आयु बन्ध करता है।

३—मनुष्य आयु कर्म बांधने के कारण :—

१—मंद कषाय वाला अर्थात् प्रत्याख्यानावरण (धूली रेखा समान) कषाय वाला और भद्र प्रकृति वाला। २—सुपात्र-कुपात्र की परीक्षा के बिना विशेष यश कीर्ति की वांछा रहित विनीत स्वभाव से दान देने वाला। ३—दया और अनुकम्पा से दान देने की तीव्र रुचि वाला, क्षमा—आर्जव—मार्दव—दया-सत्य-शौचादि धर्मों में मध्यम रूप से प्रवृत्त होने वाला। ४—मत्सर अर्थात् ईर्ष्या—डाह न करने वाला। ५—सरलता पूर्वक वस्तु तत्त्व तथा सार-असार को समझने के लिये विवेकी, देव गुरु का पूजक, पूजा प्रिय, कपोत लेश्या के परिणाम वाला जीव मनुष्य आयु कर्म का बन्ध करता है।

४—देवायु कर्म बांधने के कारण :—

१—अविरति सम्यग्दृष्टि मनुष्य और तिर्यंच। २—सुमित्र के संयोग से धर्म रुचि वाला, देश विरति, सराग संयमी। ३—बाल तप करने वाला अर्थात् दुःख गर्भित, मोह गर्भित वैराग्य प्राप्त कर दुष्कर-कष्ट सहने से पंचाग्नि तप करने वाला, रस परित्याग करने वाला, अनेक प्रकार का अज्ञान तप करने वाला, अत्यन्त रोष तथा अहंकार से तप करने वाला प्राणी

असुरादि देवता का आयु कर्म बांधता है। ४—अकाम निर्जरा—बाल भाव से विवेक के बिना अज्ञान पूर्वक काया क्लेश आदि तप करने वाला—जैसे भूख, प्यास, सर्दी गरमी, रोगादि के कष्ट सहने से, स्त्री न मिलने के कारण विवश ब्रह्मचर्य पालने से, विषयों की प्राप्ति के अभाव से विषयों का सेवन न करने से इत्यदि अकाम निर्जरा से तथा बाल मरण—अर्थात जल में डूब मरने से, अग्नि में जल मरने से, पर्वतादि ऊंचे स्थान से गिरकर मरने से, इत्यादि में किंचित् शुभ परिणाम पूर्वक मरने वाला व्यंतर देवता का आयु कम बांधता है। ५—आचार्य आदि की अवज्ञा करने से किल्विष देवता के आयु कर्म का बन्ध होता है। ६—मिथ्यादृष्टि के गुणों की प्रशंसा करने और उसकी महिमा बढ़ानें से तथा अत्यन्त क्रोधी होने से जीव परमाधार्मिक-देवता की आयु बांधता है।

शंका—जब आयु कर्म पूरा हो जाता है तब कोई भी प्राणी जीवित नहीं रह सकता, ऐसी जैन दर्शन की मान्यता है। किन्तु कई अन्य मतावलम्बियों की ऐसी मान्यता है कि आयु कर्म के बिना भी जीवों को हमारे अवतार आदि जीवित कर देते हैं सो कैसे? समाधान—यदि आयु कर्म के बिना भी जीव जीवित रह सकते हैं तो अन्य मतावलम्बियों के अवतार पैग़म्बर स्वयं क्यों मरते? इसलिये जितनी आयु पूर्व जन्म में जीव बांध के आया है उस से क्षणमात्र भी अधिक कोई नहीं जी सकता और न कोई किसी को जीवित कर सकता है। अन्य मतावलम्बी जो यह कहते हैं कि हमारे अवतार आदि ने अमुक को फिर जीवित कर दिया; यह सब मिथ्या है; क्योंकि यदि उन में ऐसी शक्ति होती तो स्वयं क्यों मर जाते! सदा क्यों न जीते रहे? ईसा (क्राईस्ट), मुहम्मद

आदि यदि आज तक स्वयं जीवित रहते तो हम मान लेते कि ये सच मुच सच्चे हैं और उनके बतलाये हुए ईश्वर का स्वरूप भी सच्चा है जिस की तरफ़ से वे उपदेश करने इस भूमि पर आये हैं। ऐसा होने से हम भी सब उनके मत को स्वीकार कर लेते और इन मतधारियों को बिना कष्ट के अपने मत को फैलाने में अनायास ही सफलता प्राप्त हो जाती। परन्तु जब ये स्वयं साधारण मनुष्यों के समान मर गये तब वे शक्तिमान् कैसे सिद्ध हो सकते हैं।

इन लोगों ने ये सब मनघड़न्त कल्पनाएं बाल जीवों को अपने मत के भ्रम जाल में फंसाने के लिये रच डाली हैं जो कि सत्य की कसौटी पर परखने से झूठी एवं मनघड़न्त गप्पें स्वयं सिद्ध हो जाती हैं। इस लिये यह सर्व मिथ्या है।

(६) नाम कर्म–जिस कर्म के उदय से जीव नारक, तिर्यञ्चादि नामों से सम्बोधित होता है अर्थात् अमुक नारक है, अमुक तिर्यंच है, अमुक मनुष्य है, अमुक देव है, इस प्रकार कहा जाता है उसे नाम कर्म कहते हैं। अथवा जो जीव को विचित्र पर्यायों में परिणत करता है, या जो जीव को गत्यादि पर्यायों का अनुभव करने के लिये उन्मुख करता है वह नाम कर्म है।

नाम कर्म चित्रकार के समान है, जैसे चित्रकार विविध वर्णों से अनेक प्रकार के सुन्दर असुन्दर रूप बनाता है अथवा मनुष्य. हाथी, घोड़े आदि को चित्रित करता है, ऐसे ही नाम कर्म जीव को सुन्दर, असुन्दर नाना भांति के देव, मनुष्य, पशु, पक्षी, पेड़, पौधे, नारकी की रचना करता है।

इस कर्म के तिरानवे (९३) भेद हैं जिन के नाम इस प्रकार हैं:-

१—नरक गति नाम, २—तिर्यंच गति नाम, ३—मनुष्य गति नाम, ४—देवगति नाम, ५—एकेन्द्रिय जाति नाम, ६—

द्वीन्द्रिय जाति नाम, ७-तीनेन्द्रिय जाति नाम, ८—चार इन्द्रिय जाति नाम, ९—पंचेन्द्रिय जाति-नाम, १०—औदारिक शरीर नाम, ११—वैक्रिय शरीर नाम. १२—आहारक शरीर नाम, १३—तैजस शरीर नाम, १४—कार्मण शरीर नाम १५—औदारिक अंगोपांग नाम, १६—वैक्रिय अंगोपांग नाम, १७—आहारक अंगोपांग नाम, १८—औदारिक बन्धन नाम १९—वैक्रिय बन्धन नाम, २०—आहारक बन्धन नाम, २१—तैजस बन्धन नाम, २२—कार्मण बन्धन नाम, २३—औदारिक संघातन नाम, २४—वैक्रिय संघातन नाम, २५—आहारक संघातन नाम, २६—तैजस संघातन नाम, २७—कार्मण संघातन नाम, २८—वज्र ऋषभ नाराच संहनन नाम, २९—ऋषभ नाराच संहनन नाम, ३०—नाराच संहनन नाम, ३१—अर्ध नाराच संहनन नाम, ३२—कीलिका संहनन नाम, ३३—सेवार्त संहनन नाम, ३४—समचतुरस्र संस्थान नाम, ३५—न्यग्रोध परिमंडल संस्थान नाम, ३६—सादि संस्थान नाम, ३७—कुब्ज संस्थान नाम, ३८—वामन संस्थान नाम, ३९—हुण्डक संस्थान नाम, ४०—कृष्ण वर्ण नाम, ४१—नील वर्ण नाम, ४२—लोहित वर्ण नाम, ४३—पीत वर्ण नाम, ४४—शुक्ल वर्ण नाम, ४५—सुरभि गन्ध नाम, ४६—दुरभि गन्ध नाम, ४७—तिक्त रस नाम, ४८—कटु रस नाम, ४९—कषाय रस नाम, ५०—आम्ल रस नाम, ५१—मधुर रस नाम, ५२—गुरु स्पर्श नाम, ५३—लघु स्पर्श नाम, ५४—मृदु स्पर्श नाम, ५५—खर स्पर्श नाम, ५६—शीत स्पर्श नाम, ५७—ऊष्ण स्पर्श नाम, ५८—स्निग्ध स्पर्श नाम, ५९—रुक्ष स्पर्श नाम, ६०—नरकानुपूर्वी नाम, ६१—तिर्यंचानुपूर्वी नाम, ६२—मनुष्यानुपूर्वी नाम, ६३—देवानुपूर्वी नाम, ६४—शुभ विहायोगति नाम, ६५—

अशुभ विहायोगति नाम, ६६—परघात नाम, ६७ - उच्छ्वास नाम, ६८ - आतप नाम, ६९—उद्योत नाम, ७०—अगुरुलघु नाम ७१—तीर्थंकर नाम, ७२—निर्माण नाम, ७३—उपघात नाम, ७४—त्रस नाम, ७५—बादर नाम, ७६—पर्याप्त नाम, ७७—प्रत्येक नाम, ७८—स्थिर नाम, ७९—शुभ नाम, ८०—सुभग नाम, ८१—सुस्वर नाम, ८२—आदेय नाम, ८३—यश-कीर्ति नाम, ८४ स्थावर नाम, ८५—सूक्ष्म नाम, ८६—अपर्याप्त नाम, ८७—साधारण नाम, ८८—अस्थिर नाम, ८९—अशुभ नाम, ९०—दुर्भग नाम, ९१—दुस्वर नाम, ९२—अनादेय नाम, ९३ - अयश नाम।

अब इन कर्म प्रकृतियों का अलग-अलग स्वरूप लिखते हैं:—

१ से ४—गति नाम कर्म - जिस कर्म के उदय से जीव, देव-नारक-तिर्यंच-मनुष्य अवस्थाओं को प्राप्त करता है :—

१—जिस कर्म के उदय से जीव को ऐसी अवस्था प्राप्त हो कि जिस से "यह नारक जीव है" ऐसा कहा जाय उस कर्म को नरकगति-नाम-कर्म कहते हैं।

२—जिस कर्म के उदय से जीव को ऐसी अवस्था प्राप्त हो कि जिस से "यह तिर्यंच है" ऐसा कहा जाय, उस कर्म को तिर्यंच-गति नाम कर्म कहते हैं।

३—जिस कर्म के उदय से जीव को ऐसी अवस्था प्राप्त हो कि जिसे देख "यह मनुष्य है" "ऐसा कहा जाय, उस कर्म को मनुष्य गति नाम कर्म कहते हैं।

४—जिस कर्म के उदय स जीव को ऐसी अवस्था प्राप्त हो कि जिसे देख "यह देव है ऐसा कहा जाय उस कर्म को देवगति नाम कर्म कहते हैं।

जिस प्रकार धागे से पिरोई हुई सूई को जब चुम्बक अपनी

तरफ़ आकर्षित करता है तथा सूई आकर्षित होकर चुम्बक की तरफ़ जाती है, तब धागा भी उसके साथ चला जाता है; उसी प्रकार जब जीव की मृत्यु होती है तब वह अपने साथ पहले बांधे हुए गति नाम तथा आयु कर्म द्वारा आकर्षित होकर जिस गति में उसने जन्म लेना होता है वहां पहुँच जाता है अर्थात् मुख्य रूप से आयु कर्म तथा गौण रूप से गति नाम कर्म दोनों सहचारी हो कर उस जीव को आकर्षित कर उस गति में ले जाते हैं, जहां उसने इन दोनां कर्मों के फल के अनुरूप जन्म लेना होता है।

नरकादि गतियां चुम्बक समान हैं, उपर्युक्त दोनों कर्म लोहे की सूई के समान हैं और जीव धागे के समान इन कर्मों के साथ ओतप्रोत है। अतः पर भव में जीव को आयुकर्म तथा गति नाम कर्म उसी प्रकार ले जाते हैं जिस प्रकार धागे को सूई ले जाती है अर्थात् जीव ने जैसे शुभ और अशुभ कर्मों का बन्ध किया हुआ होता है उन कर्मों के उदय के अनुरूप ही वह जीव उस गति में जाकर जन्म लेकर रहता है।

५ से ६ —जाति नाम कर्म :—जिस कर्म के उदय से जीव को एकेन्द्रिय, दो इन्द्रियों, तीन इन्द्रियों, चार इन्द्रियों, पंचेन्द्रियों की प्राप्ति होती है उसे जाति नाम कर्म कहते हैं।

५—जिस कर्म के उदय से पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति रूप एकेन्द्रिय-स्पर्शेन्द्रिय वाले जीव उत्पन्न हों उसे एकेन्द्रिय जाति नाम कहते हैं।

६—जिस कर्म के उदय से दो इन्द्रियों वाले—त्वचा और जीभ वाले कृमि, शंख, गंडोये आदि जीव उत्पन्न हों उसे द्वीन्द्रिय जाति नाम कर्म कहते हैं।

७—जिस कर्म के उदय से कीड़ी आदि तीन इन्द्रियों वाले

त्वचा, जीभ, और नाक वाले जीव उत्पन्न हों उस त्रीन्द्रिय जाति नाम कर्म कहते हैं।

८—जिस कर्म के उदय से मक्खी, भ्रमर आदि चार इन्द्रियों वाले—त्वचा, जीभ, नाक और आंख वाले जीव उत्पन्न हों उसे चतुरिन्द्रिय जाति नाम कर्म कहते हैं।

६—जिस कर्म के उदय से नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देवता रूप पांच इन्द्रियों वाले—त्वचा, जीभ, नाक आंख तथा कान वाले जीव उत्पन्न हों उसे पंचेन्द्रिय जाति नाम कर्म कहते हैं।

१० से १४ - शरीर नाम कर्म के पांच भेद हैं, औदारिक शरीर नाम कर्म, वैक्रिय शरीर नाम कर्म, आहारक शरीर नाम कर्म, तैजस शरीर नाम कर्म तथा कार्मण शरीर नाम कर्म।

१० - उदार अर्थात् प्रधान अथवा स्थूल पुद्गलों से बना हुआ शरीर औदारिक कहलाता है। जिस कर्म से ऐसा शरीर मिले जैसे एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय तिर्यंच और मनुष्य का शरीर मिले उसे औदारिक शरीर नाम कर्म कहते हैं।

११—जिस शरीर से विविध क्रियाएं होती हैं उसे वैक्रिय शरीर कहते हैं अर्थात् जिस की शक्ति से नारकी देवता का शरीर प्राप्त हो, जिस से मन इच्छित रूप बना सके, तथा वैक्रिय शरीर रूप पुद्गल परिणमन करने की शक्ति को वैक्रिय शरीर नाम कर्म कहते हैं।

विविध क्रियाएं ये हैं :—एक स्वरूप धारण करना, अनेक स्वरूप धारण करना, बड़ा शरीर धारण करना, आकाश में चलने योग्य शरीर धारण करना, भूमि पर चलने योग्य शरीर धारण करना, दृश्य शरीर धारण करना, अदृश्य शरीर धारण

करना इत्यादि अनेक प्रकार की अवस्थाओं को वैक्रिय शरीर-धारी जीव कर सकता है।

वैक्रिय शरीर दो प्रकार का है:—(१) औपपातिक और (२) लब्धि प्रत्यय। देव और नारकों का शरीर औपपातिक कहलाता है अर्थात् उनको जन्म से ही है वैक्रिय शरीर होता है। लब्धि प्रत्यय शरीर तिर्यंच और मनुष्यों को होता है अर्थात् मनुष्य और तिर्यंच तप आदि के द्वारा प्राप्त की हुई शक्ति विशेष से वैक्रिय शरीर धारण कर लेते हैं।

१२—चतुर्दशपूर्वधारी मुनि अन्य क्षेत्र में वर्त्तमान तीर्थंकर से अपना सन्देह निवारण करने के लिए अथवा उनका ऐश्वर्य देखने के लिए जब उक्त क्षेत्र को जाना चाहते हैं तब लब्धि विशेष से एक हाथ प्रमाण अति विशुद्ध स्फटिक के समान जो निर्मल शरीर धारण करते हैं उस शरीर को आहारक शरीर कहते हैं, जिस कर्म के उदय से ऐसे शरीर की प्राप्ति हो उसे

१—अज्ञानी लोगों ने जो यह कल्पना कर रखी है कि पापी जीवों को और धर्मी जावों को स्वर्ग के दूत मरने के बाद ले जाते हैं अथवा जबराईल फरिशता ले जाता है, यह सब मिथ्या है क्योंकि जब यम और स्वर्ग के देवता अथवा फ़रिशते मरते होंगे तब उन्हें कौन ले जाता होगा? तथा जीव तो जगत् में एक साथ अनन्त मरते और जन्मते हैं, उन सब के ले जाने के वास्ते इतने यम और देवता कहाँ से आते होंगे एवं इतने फरिशते रहते कहाँ होंगे? क्योंकि जीव तो स्थूल शरीर से निकलने के बाद किसी के हाथ में नहीं आता। इसलिए जिन्होंने सर्वज्ञ कथित आगम को नहीं पढ़ा उन अज्ञानियों ने यह उपर्युक्त कल्पना की है। (लेखक)

आहारक शरीर नाम कर्म कहते हैं।

१३—तेजः पुद्गलों से बना हुआ शरीर तैजस कहलाता है। इस शरीर की उष्णता से खाये हुए अन्न का पाचन होता है और कोई-कोई तपस्वी जो क्रोध से तेजोलेश्या के द्वारा औरों को नुकसान पहुँचाता है तथा प्रसन्न हो कर शीत लेश्या के द्वारा लाभ पहुंचाता है सो इसी शरीर के प्रभाव से समझना चाहिये। जिस कर्म के उदय से ऐसे शरीर की प्राप्ति होती है उसे तैजस-शरीर नाम कर्म कहते हैं।

१४ —कर्मों का बना हुआ शरीर कार्मण कहलाता है, जीव के प्रदेशों के साथ लगे हुए आठ प्रकार के कर्म पुद्गलों को कार्मण शरीर कहते हैं। यह कार्मण शरीर सब शरीरों का बीज है, इसी शरीर से जीव अपने मरण-देश को छोड़कर उत्पत्तिस्थान को जाता है। जिस कर्म से कार्मण शरीर की प्राप्ति होती है, उसे कार्मण शरीर नाम कर्म कहते हैं।

१५ से १७ —उपांग नाम कर्म तीन प्रकार का है :—औदारिकाङ्गोपांग नाम कर्म, वैक्रियांगोपांग नाम कर्म, आहारकांगोपांग नाम कर्म।

उपांग शब्द से तीन वस्तुओं का—अङ्ग उपाङ्ग और अङ्गोपांग का ग्रहण होता है। ये तीनों अङ्गादि औदारिक, वैक्रिय और आहारक इन तीन शरीरों में ही होते हैं। अन्त के तैजस और कार्मण इन दो शरीरों में नहीं होते क्योंकि इन दोनों का कोई संस्थान अर्थात् आकार नहीं होता। अङ्गोपांगादि के लिये किसी न किसी आकृति की आवश्यकता होती है, सो प्रथम के तीन शरीरों में ही पायी जाती है।

अङ्ग के आठ भेद हैं—दो भुजाएँ, दो जंघाएँ, एक पीठ,

एक सिर, एक छाती और एक पेट।

अङ्ग के साथ जुड़े हुए छोटे अवयवों को उपांग कहते हैं जैसे अंगुली, जानु, घुटना आदि।

अंगुलियों की रेखाएँ, पर्व, नखादि को अङ्गोपांग कहते हैं।

१५—औदारिक शरीर के आकार में परिणत पुद्गलों से अङ्गोपांग रूप अवयव जिस कर्म के उदय से बनते हैं उसे औदारिक अङ्गोपांग नाम कर्म कहते हैं।

१६—जिस कर्म के उदय से वैक्रिय शरीर रूप से परिणत पुद्गलों से अङ्गोपांग रूप अवयव बनते हैं उसे वैक्रिय अङ्गोपांग नाम कर्म कहते हैं।

१७—जिस कर्म के उदय से, आहारक शरीर रूप से परिणत पुद्गलों से अङ्गोपांग रूप अवयव बनते हैं उसे आहारक अङ्गोपांग नाम कर्म कहते हैं।

१८ से २२—बन्धन नाम कर्म के पांच भेद हैं :—औदारिक शरीर बन्धन नाम कर्म, वैक्रिय शरीर बन्धन नाम कर्म, आहारक शरीर बन्धन नाम कर्म, तैजस शरीर बन्धन नाम कर्म, कार्मण बन्धन नाम कर्म।

जिस प्रकार लाख-गोंद आदि चिकने पदार्थों से दो चीजें आपस में जोड़ दी जाती हैं, उसी प्रकार बन्धन नाम कर्म शरीर नाम कर्म के बल से प्रथम ग्रहण किये हुए शरीर-पुद्गलों के साथ, वर्त्तमान समय में जिन का ग्रहण हो रहा है ऐसे शरीर-पुद्गलों को बान्ध देता है—जोड़ देता है।

१८—जिस कर्म के उदय से प्रथम ग्रहण किये हुए औदारिक पुद्गलों के साथ वर्त्तमान समय में जिन का ग्रहण किया जा रहा हो ऐसे औदारिक पुद्गलों का आपस में मेल हो जावे, उसे औदारिक शरीर बन्धन नाम कर्म कहते हैं।

१९—जिस कर्म के उदय से पहले ग्रहण किये हुए वैक्रिय पुद्गलों के साथ वर्त्तमान समय में जिन का ग्रहण किया जा रहा हो ऐसे वैक्रिय पुद्गलों का आपस में मेल हो जावे उसे वैक्रिय शरीर-बन्धन नाम कर्म कहते हैं।

२०—जिस कर्म के उदय से प्रथम ग्रहण किये हुए आहारक पुद्गलों के साथ वर्त्तमान काल में जिन का ग्रहण किया जा रहा है ऐसे आहारक पुद्गलों का आपस में मेल हो जावे उसे आहारक शरीर-बन्धन नाम कर्म कहते हैं।

२१—जिस कर्म के उदय से पूर्व गृहीत तैजस पुद्गलों के साथ गृह्यमान तैजस पुद्गलों का परस्पर बन्ध हो उसे तैजस शरीर-बन्धन नाम कर्म कहते हैं।

२२—जिस कर्म के उदय से पूर्व-गृहीत कार्मण पुद्गलों के साथ गृह्यमान कार्मण पुद्गलों का परस्पर सम्बन्ध हो उसे कार्मण शरीर-बन्धन नाम कर्म कहते हैं।

२३ से २७—संघातन नाम कर्म पांच प्रकार का है:— औदारिक संघातन नाम कर्म, वैक्रिय संघातन नाम कर्म, आहारक संघातन नाम कर्म, तैजस संघातन नाम कर्म, कार्मण संघातन नाम कर्म।

पांच शरीर योग्य बिखरे हुए पुद्गलों को इकट्ठा करने वाले कर्म को संघातन नाम कर्म कहते हैं।

प्रथम ग्रहण किये हुए शरीर पुद्गलों के साथ गृह्यमान शरीर पुद्गलों का परस्पर बन्ध तभी हो सकता है जब कि उन दोनों प्रकार के—गृहीत और गृह्यमाण पुद्गलों का परस्पर सान्निध्य हो। पुद्गलों को परस्पर सन्निहित करना—एक दूसरे के पास व्यवस्था से स्थापन करना संघातन कर्म का कार्य है।

२३—जिस कर्म के उदय से औदारिक शरीर के रूप में परिणत पुद्गलों का सानिध्य हो, वह औदारिक संघातन नाम कर्म कहलाता है।

२४—जिस कर्म के उदय से वैक्रिय शरीर के रूप में परिणत पुद्गलों का परस्पर सानिध्य हो वह वैक्रिय संघातन नाम।

२५—जिस कर्म के उदय से आहारक शरीर के रूप में परिणत पुद्गलों का परस्पर सानिध्य हो वह आहारक संघातन नाम।

२६—जिस कर्म के उदय से तैजस शरीर के रूप में परिणत पुद्गलों का परस्पर सानिध्य हो वह तैजस संघातन नाम।

२७—जिस कर्म के उदय से कार्मण शरीर के रूप में परिणत पुद्गलों का परस्पर सानिध्य हो, वह कार्मण संघातन-नाम।

२८ से ३३—संहनन नाम कर्म छः प्रकार का है। (१) वज्र-ऋषभ नाराच, (२) ऋषभ नाराच, (३) नाराच, (४) अर्ध-नाराच, (५) कीलिका, (६) सेवार्त्त।

जिस कर्म के उदय से, शरीर में हाडों की संधियां (जोड़) दृढ़ होती हैं, जैसे कि लोहे के पट्टियों से किवाड़ मजबूत किये जाते हैं, उसे संहनन नाम कर्म कहते हैं।

२८—वज्रऋषभ नाराच संहनन नाम—वज्र का अर्थ है खीला, ऋषभ का अर्थ है वेष्टन पट्ट और नाराच का अर्थ है दोनों तरफ़ मर्कट-बन्ध। मर्कट-बन्ध से बन्धी हुई दो हड्डियों के ऊपर तीसरे हाड का वैठन हो और तीनों को भेदने वाला हड्डी का खीला जिस संहनन में पाया जाय उसे वज्र ऋषभ नाराच संहनन कहते हैं। और जिस कर्म के उदय से ऐसा संहनन प्राप्त

होता है उस कर्म का नाम वज्रऋषभ नाराच संहनन नाम कर्म है।

२९—ऋषभ नाराच संहनन नाम—दोनों तरफ हाडों का मर्कट-बन्ध हो, तीसरे हाड का बैठन भी हो लेकिन तीनों को भेदने वाला हाड का खीला न हो, तो ऋषभ नाराच संहनन। जिस कर्म के उदय से ऐसा संहनन प्राप्त होता है उसे ऋषभ नाराच संहनन नाम कर्म कहते हैं।

३०—नाराच संहनन नाम - जिस रचना में दोनों तरफ मर्कट बन्ध हो लेकिन बैठन और खीला न हो उसे नाराच संहनन कहते हैं। जिस कर्म से ऐसा संहनन प्राप्त होता है उसे नाराच संहनन नाम कर्म कहते हैं।

३१—अर्धनाराच संहनन नाम—जिस रचना में एक तरफ मर्कटबन्ध हो और दूसरी तरफ खीला हो उसे अर्धनाराच संहनन कहते हैं। जिस कर्म के उदय से ऐसा संहनन प्राप्त होता है उसे अर्धनाराच संहनन नाम कर्म कहते हैं।

३२—कीलिका संहनन नाम—जिस रचना में मर्कट-बन्ध और बैठन न हो किन्तु खीले से हाड्डियां जुड़ी हों तो उसे कीलिका संहनन कहते हैं। जिस कर्म के उदय से ऐसा संहनन प्राप्त होता उसे कीलिकासंहनन नाम कर्म कहते हैं।

३३—सेवार्त संहनन नाम—जिस रचना में मर्कट-बन्ध बैठन और खीला न हो, यों ही हड्डियां आपस में जुड़ी हों उसे सेवार्त संहनन कहते हैं, जिस कर्म के उदय से ऐसे संहनन की प्राप्ति होती है उसे सेवार्त संहनन नाम कर्म कहते हैं।

ये उपर्युक्त छह संहनन औदारिक शरीर में ही होते हैं, अन्य शरीरों में नहीं।

३४ से ३९—संस्थान नाम कर्म छह प्रकार का है—(१) सम चतुरस्र,(२) न्यग्रोध,(३) सादि,(४) कुब्ज,(५)वामन,(६) हुण्ड।

जिस कर्म के उदय से शरीर के जुदे जुदे शुभ या अशुभ आकार होते हैं उसे संस्थान नाम कर्म कहते हैं।

३४—समचतुरस्र संस्थान नाम—सम का अर्थ है समान, चतुः का अर्थ है चार और अस्र का अर्थ है कोण-अर्थात् पलथी मार कर वैठने से जिस शरीर के चार कोण समान हों-अर्थात आसन और कपाल का अन्तर, दोनों जानुओं (घुटनों) का अन्तर, दक्षिण स्कन्ध (कंधा) और वाम जानु का अन्तर, वाम स्कंध और दक्षिण जानु का अन्तर समान हो तो समचतुरस्र संस्थान समझना चाहिये। अथवा सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार जिस शरीर के सम्पूर्ण अवयव शुभ हों उसे समचतुरस्र संस्थान कहते हैं। जिस कर्म के उदय से ऐसे संस्थान की प्राप्ति होती है उसे समचतुरस्र संस्थान नाम कर्म कहते हैं।

३५—न्यग्रोधपरिमंडल संस्थान नाम—बड़ के वृक्ष को न्यग्रोध कहते हैं, उस के समान जिस शरीर में नाभि से ऊपर के अवयव पूर्ण हों किन्तु नाभि से नीचे के अवयव हीन हों तो न्यग्रोध परिमंडल संस्थान समझना चाहिये। जिस कर्म के उदय से ऐसे संस्थान की प्राप्ति होती है उस कर्म का नाम न्यग्रोधपरि-मंडल संस्थान नाम कर्म है।

३६—सादि संस्थान नाम—जिस शरीर में नाभि से नीचे के अवयव पूर्ण और नाभि से ऊपर के अवयव हीन होते हैं उसे सादि संस्थान कहते हैं। जिस कर्म के उदय से ऐसे संस्थान की प्राप्ति होती है उसे सादि संस्थान नाम कर्म कहते हैं।

३७—कुब्ज संस्थान नाम—जिस शरीर के हाथ, पैर, सिर

गर्दन आदि अवयव ठीक हों, किन्तु छाती, पीठ, पेट हीन हों, उसे कुब्ज संस्थान कहते हैं। जिस कर्म के उदय से ऐसे संस्थान की प्राप्ति होती है उसे कुब्ज संस्थान नाम कर्म कहते हैं। लोक में कुब्ज को कुबड़ा कहते हैं।

३८—वामन संस्थान नाम—जिस शरीर में हाथ, पैर आदि अवयव हीन-छोटे हों और छाती, पेटादि पूर्ण हों, उसे वामन संस्थान कहते हैं। जिस कर्म के उदय से ऐसे संस्थान की प्राप्ति होती है उसे वामन संस्थान नाम कर्म कहते हैं। लोक में वामन को बौना (ठिगना) कहते हैं।

३९—हुण्ड संस्थान नाम—जिस के समस्त अवयव बेढब हों-प्रमाण शून्य हों, उसे हुँड संस्थान कहते हैं। जिस कर्म के उदय से ऐसे संस्थान की प्राप्ति होती है उसे हुण्ड संस्थान नाम कर्म कहते हैं।

४० से ४४—वर्ण नाम कर्म पांच प्रकार का है—(१) कृष्ण, (२) नील, (३) लोहित, (४) पीत, (५) शुक्ल। शरीर के रंग को वर्ण कहते हैं। जिस कर्म के उदय से शरीरों में जुदे-जुदे रंग होते हैं उसे वर्ण नाम कर्म कहते हैं।

४०—कृष्ण वर्ण नाम—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर कोयले जैसा काला हो, वह कृष्ण वर्ण नाम कर्म।

४१—नील वर्ण नाम—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर तोते के पंख जैसा हरा अथवा नीले रंग का हो उसे नील वर्ण नाम कर्म कहते हैं।

४२—लोहित वर्ण नाम—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर सिंदूर जैसा लाल हो, वह लोहित वर्ण नाम कर्म।

४३—पीत वर्ण नाम—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर हड़ताल हल्दी जैसा पीला हो, वह पीत वर्ण नाम कर्म।

४४—शुक्ल वर्ण नाम—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर शंख स्फटिक जैसा सफेद हो, वह शुक्ल वर्ण नाम कर्म।

४५ से ४६—गन्ध नाम कर्म दो प्रकार का है। (१) सुरभि, (२) दुरभि।

जिस कर्म के उदय से शरीर की अच्छी या बुरी गन्ध हो, उसे गन्ध नाम कर्म कहते हैं।

४५—सुरभि गन्ध नाम—जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर में कपूर, कस्तूरी, फूलादि पदार्थों जैसी सुगन्ध होती है उसे सुरभि गन्ध नाम कर्म कहते हैं।

४६—दुरभि गन्ध नाम जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर में लुप्त अथवा सड़े पदार्थों जैसी गन्ध हो उसे दुरभि गन्ध नाम कर्म कहते हैं।

४७ से ५१—रस नाम कर्म पांच प्रकार का है—(१) तिक्त नाम, (२) कटु नाम, (३) कषाय नाम, (४) आम्ल नाम, (५) मधुर नाम।

जिस कर्म के उदय से शरीर में खट्टे, मीठे आदि रसों की उत्पत्ति होती है उसे रस नाम कर्म कहते हैं।

४७—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर-रस निम्ब या चिरायते जैसा कडुवा हो, वह तिक्त रस नाम कर्म।

४८—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर-रस सोंठ या काली मिर्च जैसा चरपरा हो, वह कटु रस नाम कर्म।

४६—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर-रस आंवला या बेहड़े जैसा कसैला हो, वह कषाय रस नाम कर्म।

५०—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर-रस निम्बू या इमली जैसा खट्टा हो, वह आम्ल रस नाम कर्म।

५१—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर-रस ईख, खांड जैसा मीठा हो, वह मधुर रस नाम कर्म।

५२ से ५६—स्पर्श नाम कर्म आठ प्रकार का है—(१) गुरु नाम, (२) लघु नाम, (३) मृदु नाम, (४) खर नाम, (५) शीत नाम, (६) उष्ण नाम, (७) स्निग्ध नाम और (८) रूक्ष नाम।

जिस के उदय से शरीर में कोमल, रूक्ष आदि स्पर्श हों, उसे स्पर्श नाम कर्म कहते हैं।

५२—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर लोहे जैसा भारी हो वह गुरु नाम कर्म है।

५३—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर आक की रुई (अर्क-तूल) जैसा हल्का हो, वह लघुनाम कर्म है।

५४—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर मक्खन जैसा कोमल-मुलायम हो वह मृदु स्पर्श नाम कर्म है।

५५—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर गाय की जीभ जैसा कर्कश (खुरदरा) हो, उसे कर्कश नाम कर्म कहते हैं।

५६—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर हिम-बर्फ जैसा ठण्डा हो उसे शीत स्पर्श नाम कर्म कहते हैं।

५७—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर अग्नि के समान उष्ण हो उसे उष्ण स्पर्श नाम कर्म कहते हैं।

५८—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर घी के समान चिकना हो वह स्निग्ध नाम कर्म है।

५६—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर राख के समान

रूखा हो उसे रुक्ष स्पर्श नाम कर्म कहते हैं।

६० से ६३—आनुपूर्वी नाम कर्म चार प्रकार का है:—(१) नरकानुपूर्वी, (२) तिर्यंचानुपूर्वी, (३) मनुष्यानुपूर्वी, (४) देवतानुपूर्वी।

जिस कर्म के उदय से जीव विग्रह गति (वक्र-बांकी गति) में अपने उत्पत्ति स्थान में पहुंचता है उसे आनुपूर्वी नाम कर्म कहते हैं।

आनुपूर्वी नाम कर्म के लिये नाथ (नासा-रज्जु) का दृष्टांत दिया गया है, जैसे इधर उधर भटकते हुए बैल को नाथ के द्वारा जहां चाहते हैं, ले जाते हैं, उसी प्रकार जीव जब सम-श्रेणी से जाने लगता है, तब आनुपूर्वी कर्म उसे जहां उत्पन्न होना हो वहां पहुँचा देता है।

६०—जब जीव नरक गति नाम कर्म के उदय से वक्र गति करता है उस समय जो कर्म वक्र जाते हुए इस जीव को अपने स्थान पर पहुंचा देता है उसे नरकानुपूर्वी नाम कर्म कहते हैं।

६१—जब जीव तिर्यंच गति नाम कर्म के उदय से वक्र गति करता है उस समय उस वक्र जाते हुए जीव को जो कर्म अपने स्थान पर पहुँचाता है उसे तिर्यंचानुपूर्वी नाम कर्म कहते हैं।

६२-६३—इसी प्रकार मनुष्यानुपूर्वी तथा देवतानुपूर्वी को भी समझ लेना चाहिये।

६४ से ६५—विहायोगति नाम कर्म—इस कर्म के दो भेद है:—(१) शुभ विहायोगति, (२) अशुभ विहायोगति।

जिस कर्म के उदय से जीव की चाल (चलना) हाथी या

बैल के समान शुभ अथवा गधे की चाल के समान अशुभ होती है उसे विहायोगति नाम कर्म कहते हैं।

६४—शुभ विहायोगति नाम कर्म—जिस कर्म के उदय से हाथी अथवा बैल के समान जीव की चाल शुभ हो उसे शुभ विहायोगति नाम कर्म कहते हैं।

६५—अशुभ विहायोगति नाम कर्म—जिस कर्म के उदय से गधे के समान जीव की चाल हो उसे अशुभ विहायोगति नाम कर्म कहते हैं।

६६—पराघात नाम कर्म—जिस कर्म के उदय से पर की शक्ति नष्ट हो जावे, बड़े-बड़े बलवानों से भी पराभव न किया जा सके, अर्थात् बड़े-बड़े बलवान भी उस का लोहा मानते हैं और विरोधियों के छक्के छूट जाते हैं।

६७—श्वासोच्छ्वास नाम कर्म—जिस कर्म के उदय से जीव श्वासोच्छ्वास लब्धि से युक्त होता है अर्थात् जिस कर्म के उदय से जीव सांस लेता है और छोड़ता है उसे श्वासोच्छ्वास नाम कर्म कहते हैं।

६८—आतप नाम—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर स्वयं उष्ण न होकर भी उष्ण प्रकाश करता है, उसे आतप नाम कर्म कहते हैं। जैसे सूर्य मंडल बादर एकेन्द्रिय पृथ्वीकाय जीवों का शरीर ठण्डा है परन्तु आतप नाम कर्म के उदय से वह (शरीर) उष्ण प्रकाश करता है।

६९—उद्योत नाम कर्म—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर उष्ण स्पर्श रहित—अर्थात् शीत प्रकाश फैलाता है, चन्द्र मण्डलवत् उसे उद्योत नाम कर्म कहते हैं।

७०—अगुरुलघु नाम कर्म—जिस कर्म के उदय से जीव

का शरीर न भारी होता है न हल्का होता है उसे अगुरुलघु नाम कर्म कहते हैं।

७१—तीर्थंकर नाम कर्म—जिस कर्म के उदय से तीर्थंकर पद की प्राप्ति होती है अर्थात् जिस के उदय से जीव चतुर्विध संघ-तीर्थ स्थापन करके तीर्थंकर पदवी प्राप्त करता है उसे तीर्थंकर नाम कर्म कहते हैं।

७२—निर्माण नाम कर्म—जिस कर्म के उदय से अंग और उपांग, शरीर से अपनी अपनी जगह व्यवस्थित होते हैं। अर्थात शरीर में हाथ, पग, पिंडली, साथल, पेट, छाती, बाहु, गला, कान, नाक, ओंठ, दांत, मस्तक, केश, रोम, शरीर की नसों की विचित्र रचना, आँख, मस्तक प्रमुख के पड़दे यथार्थ-यथा योग्य अपने अपने स्थान में उत्पन्न हों। जैसे साचे से वस्तु तैयार होती हैं वैसे ही जिस कर्म के उदय से सब जीवों के शरीरों में अवयवों की रचना होती है उसे निर्माण नाम कर्म कहते हैं।

७३—उपघात नाम कर्म—जिस कर्म के उदय से जीव अधिक तथा न्यून शरीर के अवयवों से पीड़ा पाता है अर्थात् अपने ही अवयवों से—प्रतिजिह्वा (पड़ जीभ), चौर दन्त (ओठ से बाहर निकले हुए दांत), रसौली, छठी अंगुल आदि से क्लेश पाता है उसे उपघात नाम कर्म कहते हैं।

७४—त्रस नाम कर्म—जिसे कर्म के उदय से जीव को त्रसकाय की प्राप्ति हो अर्थात् जो जीव सर्दी-गरमी से अपना बचाव करने के लिये एक स्थान को छोड़ कर दूसरे स्थान में जाते हैं वे त्रस कहलाते हैं, ऐसे जीव द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय हैं। जिस कर्म के उदय से जीव को हिलने चलने की

लब्धि (शक्ति) प्राप्त होती है उसे त्रस नाम कर्म कहते हैं।

७५—बादर नाम कर्म—जिस कर्म के उदय से जीव बादर (स्थूल) चक्षु ग्राह्य शरीर पाते हैं उसे बादर नाम कर्म कहते हैं।

७६ - पर्याप्त नाम कर्म—जिस कर्म के उदय से जीव अपनी अपनी पर्याप्तियों से युक्त होते हैं उसे पर्याप्त नाम कर्म कहते हैं। जीव की उस शक्ति को पर्याप्ति कहते हैं जिस के द्वारा पुद्गलों को ग्रहण करने तथा उन को आहार, शरीर आदि के रूप में बदल देने का काम होता है। विषय भेद से पर्याप्ति के छः भेद हैं:— आहार पर्याप्ति, शरीर पर्याप्ति, इन्द्रिय पर्याप्ति, श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति, भाषा पर्याप्ति और मनः पर्याप्ति।

७७—जिस कर्म के उदय से एक शरीर का एक ही जीव स्वामी हो उसे प्रत्येक नाम कर्म कहते हैं।

७८—स्थिर नाम कर्म—जिस कर्म के उदय से दांत, हड्डी, ग्रीवा आदि शरीर के अवयव स्थिर—अर्थात निश्चल होते हैं उसे स्थिर नाम कर्म कहते हैं।

७९—शुभ नाम कर्म—जिस कर्म के उदय से नाभि के ऊपर के अवयव शुभ होते हैं उसे शुभ नाम कर्म कहते हैं। हाथ, सिर आदि शरीर के अवयवों से स्पर्श होने पर किसी को अप्रीति नहीं होती जैसे कि पैर के स्पर्श से होती है, यही नाभि के ऊपर के अवयवों में शुभत्व है।

८०—सुभग नाम कर्म—जिस कर्म के उदय से किसी प्रकार का उपकार किये विना या किसी तरह के सम्बन्ध के विना भी जीव सब का प्रीति पात्र होता है, उसे सुभग नाम कर्म कहते हैं।

८१—सुस्वर नाम कर्म—जिस कर्म के उदय से जीव का

स्वर (आवाज) कोयल और मोर आदि के समान मधुर और प्रीतिकर हो उसे सुस्वर नाम कर्म कहते हैं।

८२—आदेय नाम कर्म—जिस कर्म के उदय से जीव का वचन सर्व-मान्य हो, वह आदेय नाम कर्म।

८३—यशः कीर्ति नाम कर्म के उदय से संसार में यश और कीर्ति फैले उसे यशः कीर्ति नाम कर्म कहते हैं।

८४—स्थावर नाम कर्म—जिस कर्म के उदय से जीव स्थिर रहे-सर्दी-गरमी से बचने की कोशिश न कर सके उसे स्थावर नाम कर्म कहते हैं।

पृथ्वी काय, जल काय, तेजः काय, वायु काय और वनस्पति काय, ये स्थावर जीव हैं। यद्यपि तेजः काय और वायु काय के जीवों में स्वाभाविक गति है तथापि द्वीन्द्रिय आदि त्रस जीवों की तरह सर्दी-गरमी से बचने की विशिष्ट गति उन में नहीं है।

८५—सूक्ष्म नाम कर्म—जिस कर्म के उदय से जीव को सूक्ष्म शरीर (जो किसी को न रोक सके और न खुद ही किसी से रुक सके) प्राप्त हो उसे सूक्ष्म नाम कर्म कहते हैं।

इस नाम कर्म वाले जीव भी पांच स्थावर ही होते हैं, वे सब लोकाकाश में व्याप्त हैं, आंख से नहीं देखे जा सकते।

८६—अपर्याप्त नाम कर्म—जिस कर्म के उदय से जीव स्वयोग्य पर्याप्ति पूर्ण न करे वह अपर्याप्त नाम कर्म।

८७—साधारण नाम कर्म—जिस कर्म के उदय से अनन्त जीवों का एक ही शरीर हो अर्थात् अनन्त जीव एक शरीर के स्वामी बनें, वह साधारण नाम कर्म।

८८—अस्थिर नाम कर्म—जिस कर्म के उदय से कान,

मेंह, जीभ आदि अवयव अस्थिर अर्थात् चपल होते हैं अथवा शरीर में लहू चलता है, हाड आदि शिथिल हों उसे अस्थिर नाम कर्म कहते हैं।

८९—अशुभ नाम कर्म—जिस कर्म के उदय से नाभि के नीचे के अवयव-पैर आदि अङ्ग उपांग अशुभ होते हैं उसे अशुभ नाम कर्म कहते हैं। पैर का स्पर्श होने से अप्रसन्नता होती है, यही अशुभत्व है।

९०—दुर्भग नाम कर्म—जिस कर्म के उदय से अपराध किये बिना ही बुरा लगे अथवा उपकारकरने वाला भी अप्रिय लगे उसे दुर्भग नाम कर्म कहते हैं।

९१—दुःस्वर नाम कर्म—जिस कर्म के उदय से जीव का स्वर कर्कश, सुनने में अप्रिय लगे उसे दुःस्वर नाम कर्म कहते हैं।

९२—अनादेय नाम कर्म—जिस कर्म के उदय से जीव का वचन युक्त—अच्छा भी हो तो भी लोग उसे न मानें अथवा अनादरणीय समझा जाता है, वह अनादेय नाम कर्म।

९३—अयशः कीर्ति नाम कर्म—जिस कर्म के उदय से दुनिया में जीव का अपयश और अकीर्ति फैले, वह अयशः कीर्ति नाम कर्म[1]।

अब नाम कर्म के बन्ध हेतु (कारण) लिखते हैं :—

(१) देवगति आदि तीस शुभ नाम कर्म की प्रकृतियों को बन्ध करने वाला कौन होता है ?

१—नाम कर्म के शास्त्रकारों ने ४२, ६७, ९३, १०३ भेद भिन्न भिन्न अपेक्षाओं से किये हैं। यहां पर ९३ भेदों का संक्षिप्त स्वरूप कहा है।

जो व्यक्ति सरल (कपट रहित) हो, जैसा मन में हो वैसा आचरण हो। किसी को भी अधिक न्यून तोल, माप करके न ठगे, दूसरे को धोखा देने की बुद्धि से रहित हो। ऋद्धि गौरव, रस गौरव, साता गौरव से रहित हो। पाप करता हुआ डरे, परोपकारी, सर्वजन प्रिय, क्षमा आदि गुण युक्त अर्थात् काया की सरलता, भाव की सरलता और भाषा का सरलता तथा अवि-संवादन योग, ये शुभ नाम कर्म बन्ध के हेतु हैं।

(२) अप्रमत्त यतिधर्म पालन करने से (अप्रमत्त चरित्र वाला मुनि) आहारक द्विक बांधता है।

(३) तीर्थंकर नाम कर्म बांधने के लिये अरिहंत आदि बीस स्थानकों का सेवन करना चाहिये।

वे बीस स्थानक इस प्रकार हैं:—१—७ अरिहंत, सिद्ध, प्रवचन, गुरु, स्थविर, बहु श्रुत और तपस्वी इन में भक्तिभाव रखना, इनके गुणों का कीर्तन करना तथा इनकी सेवा पूजा करना। ८—निरंतर ज्ञान में उपयोग रखना। ९—निरतिचार सम्यक्त्व धारण करना। १०—दोष न लगाते हुए ज्ञानादि विनय का सेवन करना। ११—निर्दोष आवश्यक क्रिया करना। १२—मूलगुण एवं उत्तर गुणों में अतिचार न लगाना। १३—सदा संवेग भाव और शुभ ध्यान में लगे रहना। १४—शक्ति के अनुसार तप करना। १५—शक्ति के अनुसार सुपात्र को दान देना। १६—दस प्रकार की वैयावृत्य करना। १७—गुरु आदि को समाधि हो वैसा कार्य करना। १८—सदा नया नया ज्ञान सीखना। १९—श्रुत की भक्ति अर्थात् बहुमान करना। २०—प्रवचन की प्रभावना करना।

(४) अशुभ नाम कर्म बांधने के कारण:—उपर्युक्त शुभ

नाम कर्म बांधने के हेतुओं के विपरीत आचरण से अर्थात् बहुत कपट करने से, कम तोल माप करके दूसरे को ठगने से, परद्रोही, हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह में तत्पर, चैत्य अर्थात् जिन मन्दिर आदि की विराधना करने से, व्रत लेकर भंग करने से, तीनों गौरव (ऋद्धि गौरव, रस गौरव, साता गौरव) में मत्त हो, चारित्र से हीन व्यक्ति नरक गति आदि अशुभ नाम कर्म की ३४ कर्म प्रकृतियों का बन्ध करता है[1]।

(७) गोत्र कर्म—जिस कर्म के उदय से जीव उच्च नीच शब्दों से कहा जाय उसे गोत्र कर्म कहते हैं। इसी कर्म के उदय से जीव जाति कुल आदि की अपेक्षा बड़ा छोटा कहा जाता है। गोत्र कर्म को समझाने के लिये कुम्हार का दृष्टांत दिया जाता है। जैसे कुम्हार कई घड़ों को ऐसा बनाता है कि लोग उन घड़ों की प्रशंसा करते हैं और कुछ को कलश मान कर उसकी अक्षत चन्दनादि से पूजा करते हैं। कई घड़े ऐसे होते हैं कि निन्द्य पदार्थ के संसर्ग के बिना भी लोग उसकी निन्दा करते हैं, तो कई मद्यादि घृणित द्रव्यों के रखे जाने से सदा निन्दनीय समझे जाते हैं। उच्च नीच भेद वाला गोत्र कर्म भी ऐसा ही है।

इस कर्म के दो भेद हैं :—१—उच्च गोत्र कर्म, २—नीच गोत्र कर्म।

१—उच्च गोत्र—जिस कर्म के उदय से जीव उत्तम कुल में जन्म लेता है उसे उच्च गोत्र कर्म कहते हैं।

२—नीच गोत्र—जिस कर्म के उदय से जीव नीच कुल में

१—यह नाम कर्म की ६७ प्रकृतियों की अपेक्षा से बन्ध का वर्णन किया है।

जन्म लेता है उसे नीच गोत्र कहते हैं।

धर्म और नीति की रक्षा के सम्बन्ध से जिस कुल ने चिरकाल से प्रसिद्धि प्राप्त की है वह उच्च कुल है, जैसे—इक्ष्वाकु वंश, हरि वंश, चन्द्र वंश आदि, विशिष्ट जाति, जो कुल उत्तम बल, विशिष्ट रूप, ऐश्वर्य, तपोगुण, विद्यागुण सहित हो, वह उच्च गोत्र है।

अधर्म और अनीति के पालन से जिस कुल ने चिरकाल से प्रसिद्धि प्राप्त की है वह नीच कुल है। जैसे भिक्षु कुल, वधककुल (कसाइयों का) मद्य बेचने वालों का, चौर कुल आदि, वह नीच गोत्र है।

उच्च गोत्र बांधने के हेतुः—जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि जितने गुण जिस में जाने उतने ही कहे तथा अवगुण देखकर निन्दा न करे, (उसे गुण प्रेक्षी कहते हैं) ऐसा गुण प्रेक्षी हो। जाति मद, कुल मद, बल मद, रूप मद, सूत्र मद, ऐश्वर्य मद, लाभ मद, तपो मद, (अर्थात् जाति, कुल, बल, रूप, विद्वत्ता, ऐश्वर्य, लाभ तथा तप की उत्तम प्रकार से प्राप्ति होने से गौरव का विषय होने पर भी अभिमान) न करे। सूत्र-सिद्धान्त को जिसे पढ़ने-पढ़ाने की रुचि हो। निरहंकार पूर्वक सुबुद्धि पुरुषों को शास्त्र समझावे, इत्यादि परहित करने वाला जीव उच्च गोत्र बांधता है। तीर्थंकर, सिद्ध, प्रवचन, संघादि की अन्तरङ्ग से भक्ति करने वाला उच्च गोत्र बांधता है।

नीच गोत्र बांधने के हेतुः—उपर्युक्त गुणों से विपरीत गुणों वाला अर्थात् मत्सरी, जाति आदि आठ मद सहित, अहंकार के उदय से किसी को न पढ़ावे, सिद्ध, प्रवचन, अरिहंत आदि की निन्दा करे, भक्ति न करे तो जीव नीच कुल में उत्पन्न कराने वाला नीच गोत्र कर्म बांधे।

(८) अन्तराय कर्म—इस कर्म का दूसरा नाम विघ्न कर्म है। इसके पांच भेद हैं :—

१—दानान्तराय, २—लाभान्तराय, ३—भोगान्तराय, ४—उपभोगान्तराय, ५—वीर्यान्तराय।

जिस कर्म के उदय से जीव को कार्य करने में बाधा आती है अथवा कार्य में विघ्न आपड़ता है। अर्थात्—यह अन्तराय कर्म भंडारी के प्रतिकूल होने से राजादि दानादि नहीं करते—नहीं कर सकते, इस प्रकार विघ्न कर्म के कारण जीव भी दानादि नहीं कर सकता।

१—दानान्तराय—दान की चीजें मौजूद हों, गुणवान पात्र भी आया हो, देने की इच्छा भी करे, तो भी जिस कर्म के उदय से दे न सके उसे दानान्तराय कर्म कहते हैं।

२—लाभान्तराय—देने वाला उदार दाता मौजूद हो, दान की चीजें भी मौजूद हों, याचना में कुशलता भी हो तो भी जिस कर्म के उदय से लाभ न हो अथवा व्यापारादि में चतुर भी हो तो भी जिस कर्म के उदय से नफ़ा न मिले उसे लाभान्तराय कर्म कहते हैं।

यह न समझना चाहिये कि लाभान्तराय का उदय याचकों अथवा व्यापारियों को ही होता है। यहां तो दृष्टांत मात्र ही दिया गया है। योग्य सामग्री के रहते हुए भी अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति जिस कर्म के उदय से नहीं होने पाती वह "लाभान्तराय", ऐसा इस कर्म का अर्थ है।

३—भोगान्तराय—भोग के साधन मौजूद हों, वैराग्य न हो तो भी जिस कर्म के उदय से जीव भोग्य चीजों को न भोग केस वह भोगान्तराय कर्म है।

जो पदार्थ एक बार भोगे जावें उन्हें भोग कहते हैं, जैसे कि—फल, फूल, जल, दूध, भोजनादि।

४—उपभोगान्तराय—उपभोग की सामग्री मौजूद हो, विरति रहित हो तथापि जिस कर्म के उदय से जीव उपभोग्य पदार्थों का उपभोग न कर सके वह उपभोगान्तराय कर्म।

जो पदार्थ बार बार भोगे जायें उन को उपभोग कहते हैं। जैसे मकान, वस्त्र, आभूषण, स्त्री, जूते इत्यादि।

५—वीर्यान्तराय—वीर्य का अर्थ है सामर्थ्य, इस कर्म के अवान्तर भेद तीन हैं—१—बालवीर्यान्तराय, २—बाल पंडित वीर्यान्तराय, ३—पंडित वीर्यान्तराय।

बलवान हो, रोग रहित हो, युवा हो तथापि जिस कर्म के उदय से जीव एक तृण को भी टेढ़ा न कर सके, उसे वीर्यान्तराय कहते हैं।

बालवीर्यान्तराय—जिस कर्म के उदय से मिथ्या मत की क्रिया न कर सके अथवा सांसारिक कार्यों को करने में समर्थ हो तो भी जीव न कर सके, उसे बालवीर्यान्तराय कर्म कहते हैं।

बाल पंडित वीर्यान्तराय—जिस कर्म के उदय से सम्यग्दृष्टि, देश विरति, धर्मादि क्रिया न कर सके अथवा सम्यग्दृष्टि, देश विरति को चाहता हुआ भी जीव उस का पालन न कर सके उसे बाल पंडित वीर्यान्तराय कर्म कहते हैं।

पंडित वीर्यान्तराय—जिस कर्म उदय से सम्यग्दृष्टि साधु मोक्ष मार्ग की सम्पूर्ण क्रियाओं को न कर सकता हो, उसे पंडित वीर्यान्तराय कर्म कहते हैं।

अन्तराय कर्म बान्धने के हेतु—श्री जिन प्रतिमा की पूजा का निषेध करे, उत्सूत्र की प्ररूपणा करे, अन्य जीवों को कुमार्ग

में प्रवर्त्तावे, हिंसादि अठारह पापों के सेवन से, तथा दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य में अन्तराय देने से जीव अन्तराय कर्म बांधता है।

सारांश

इस उपर्युक्त कर्मों के स्वरूप को समझ लेने के बाद आप यह स्वयमेव ही जान गए होंगे कि इन आठ कर्मों की १४८ प्रकृतियों के उदय से जीवों के शरीरादिक की जो विचित्र रचना होती है तथा आहारादि के खाने से उसके रस का परिणमन होकर शरीर में जैसे-जैसे रङ्ग और प्रमाण संयुक्त हड्डियां नसें, मांस पेशियां, जाल, आंख के पड़दे मस्तक के विचित्र अवयव बनते हैं, यह सब कर्मों के उदय से शरीर के सामर्थ्य से होता है।

किन्तु यहां ईश्वर कुछ नहीं करता। अतः—१—काल, २—स्वभाव, ३—नियति, ४—कर्म, ५—उद्यम, इन पांचों कारणों से जगत् की विचित्र रचना हो रही है जो कि हम प्रश्न नं० १५ के उत्तर में स्पष्ट सिद्ध कर आये हैं।

यदि ईश्वर कर्त्तावादी इन पूर्वोक्त पांचों समवाय कारणों के नाम को ही ईश्वर कहते हों तब तो हम भी इन पांचों समवाय कारणों को कर्त्ता मानते हैं। इन के सिवाय अन्य कोई कर्त्ता नहीं है।

यदि कोई यह कहे कि जैनियों ने स्वकपोल कल्पना से कर्मों के भेद बना रखे हैं, तो यह कहना महा मिथ्या है। क्योंकि कार्यानुमान से जो जैनियों ने कर्मों के भेद माने हैं वे सर्व सिद्ध होते हैं तथा उपर्युक्त सर्व कर्मों के भेद सर्वज्ञ वीतराग ने प्रत्यक्ष केवल ज्ञान से देखे हैं। इन कर्मों के सिवाय जगत् की विचित्र रचना कदापि सिद्ध नहीं हो सकती।

इस लिये सुज्ञ एवं आत्मकल्याण चाहने वाले लोगों को अरिहंत प्रणीत धर्म अङ्गीकार करना उचित है तथा ईश्वर वीतराग सर्वज्ञ किसी प्रमाण से भी जगत् का कर्त्ता सिद्ध नहीं होता है, जिस का स्वरूप हम ऊपर लिख आये हैं।

१५५ प्र०—यह कैसे माना जावे कि जैन धर्म के ग्रन्थ श्री महावीर भगवान् से लेकर श्री देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण तक कंठाग्र रहे। तथा श्वेतांबर जैन धर्म मूल से है एवं दिगम्बर मत पीछे से निकला है। इसकी सत्यता में क्या प्रमाण है ?

उ०—जैनधर्म के आचार्य अन्य सर्व मतावलम्बियों से अधिक बुद्धिमान् तथा आत्मज्ञानी थे। इस में भी श्वेताम्बर जैनाचार्य दिगम्बर मत के आचार्यों से अधिक सुविहित, शिरोमणि विचक्षण, तथा आत्मज्ञानी थे। क्योंकि श्वेताम्बर जैनाचार्य श्रमण भगवान् महावीर की द्वादशांग वाणी को अक्षुण्ण रूप से गुरु परम्परा से बहुत काल तक कंठाग्रज्ञान रखने में शक्तिमान थे। उसी द्वादशांग वाणी को श्री देवर्द्धिगणि क्षमा श्रमण की अध्यक्षता में एक करोड़ पांच सौ (१००००५००) आचार्यों ने एवं हजारों सामान्य साधुओं ने श्री वीरात् ६८० में वल्लभी नगरी में शास्त्रों में लिपिबद्ध किया। और दिगम्बर मत के सर्व प्रथम तीन ग्रन्थ (१) धवला श्लोक ७०००० प्रमाण, (२) जयधवला श्लोक ६०००० प्रमाण, (३) महाधवला श्लोक ४०००० प्रमाण भूतबलि और पुष्पदन्त नामक दो साधुओं ने वीरात् ६८३ में रचे (बनाये) थे।

बौद्धमत के ग्रन्थ तो भगवान् महावीर के कुछ वर्षों बाद ही लिखे गये थे क्योंकि बौद्ध भिक्षुओं की बुद्धि, आत्मज्ञान, तथा

त्याग अल्प थे। इसलिये उन्हों ने अपने ग्रंथ जल्दी से लिख लिये क्योंकि उन्हें भय था कि यदि ग्रन्थ शीघ्र न लिखे गये तो विस्मृत हो जायेंगे।

किन्तु जिन की महान् प्रौढ़ धारणा करने की शक्तिशाली बुद्धि थी, जो आत्मज्ञानी महान त्यागी तथा संयमी थे ऐसे जैन आचार्यों ने गुरु परम्परा से कंठाग्र चले आते शास्त्र समूह को पीछे से लिपिबद्ध किया। यह बात अनुमान से सिद्ध है।

तथा दिगम्बर मत में एक भी ऐसा आगम, शास्त्र, अथवा ग्रन्थ नहीं है जो कि श्रमण भगवान् महावीर के गणधर आदि शिष्यों से लेकर ५८५ वर्ष तक में हो गये हजारों जैनाचार्यों में से किसी भी आचार्य का रचा हुआ हो। इस लिये दिगम्बर मत बाद में पीछे से उत्पन्न हुआ है।

१५६ प्र०—देवर्द्धिगणिक्षमाश्रमण की अध्यक्षता में जो ज्ञान पुस्तकों में लिखा गया है उस के लिये आपने कहा है—कि जैनाचार्यों की अविछिन्न परम्परा से जो ज्ञान चला आया है वही लिखा गया है। सो इस की सत्यता के लिये क्या प्रमाण है जिस से श्वेताम्बर जैन धर्म का आगम साहित्य सत्य माना जाय?

उ०—जनरल कनिंगहाम साहब, डाक्टर हारनल साहब तथा डाक्टर बूलर साहिब इत्यादि ने मथुरा नगरी के कंकाली टीले में से निकली हुई अति प्राचीन श्री महावीर स्वामी की प्रतिमा की पलांठी पर से तथा कितनेक पुराने स्तम्भों पर से जैन धर्म सम्बन्धी लेखों को अपनी निष्पक्ष विद्वत्ता पूर्ण बुद्धि के प्रभाव से पढ़कर अङ्गरेजी की पुस्तकों में प्रकाशित किया है। उन प्राचीन लेखों से निःसंशय सिद्ध होता है कि अन्तिम तीर्थंकर

श्रमण भगवान् महावीर जी से लेकर श्री देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण तक जैन श्वेताम्बर धर्म के आचार्य भगवान् श्री महावीर स्वामी द्वारा प्ररूपित द्वादशांग वाणी ज्ञान को कठाग्र रखने में बहुत प्रज्ञावान, उद्यमशील तथा आत्मज्ञानी थे। अतः हम उन अंग्रेज विद्वानों की इस निष्पक्ष शोध खोज के बहुत आभारी हैं।

बम्बई समाचार गुजराती भाषा में बम्बई से प्रतिदिन प्रगट होता है। इस पत्र के सम्पादक ने उन लेखों को पढ़कर विक्रम संवत् १९४४ के चतुर्मास के एक अङ्क में लिखा है कि जैन धर्म के कल्पसूत्र को कई विद्वान कल्पित मानते थे, परन्तु इन लेखों से यह कल्पसूत्र सच्चा सिद्ध होता है।

१५७ प्र०—वे लेख कौन से हैं? जिन का उल्लेख आपने इन ऊपर के प्रश्नों के उत्तर में किया है, तथा इन लेखों से यह कैसे सिद्ध होता है कि जैन श्वेताम्बर धर्म के मान्य शास्त्र-भगवान् महावीर की मूल वाणी का ही संकलन है?

उ०—वे लेख ये हैं जो कि डाक्टर बूलर साहिब ने संशोधन पूर्वक लिखे हैं और जिन का गुजराती भाषा में भाषांतर करके हमें भाषांतर कर्ता ने दिये हैं। ये लेख सर० ए० कनिंघम के आर्किओलोजिकल रिपोर्ट पुस्तक आठवीं में चित्र १३, १४ तथा १५ तक प्रगट हुए मथुरा के शिलालेखों के हैं।

इन शिलालेखों में जैन साधुओं के सम्प्रदाय, आचार्यों के गण और शाखाएं लिखे हुए हैं। गौरव का विषय है, कि जिन साधुओं, आचार्यों, गणों, कुलों तथा शाखाओं का उल्लेख है वे सब गण (गच्छ) कुल, शाखाएं कल्पसूत्र में उल्लिखित गणों, कुलों तथा शाखाओं के अनुकूल हैं अर्थात् उन सब का उल्लेख कल्पसूत्र में मिलता है।

इन लेखों में जो सम्वत् दिये हुए हैं वे भारत तथा सीथिया देश के राजा कनिष्क, हविष्क और वासुदेव के समय के संवत् लिखे हुए हैं। ये संवत् कब प्रारम्भ हुए इसका कोई निश्चित समय इतिहासकारों ने अभी तक निश्चय नहीं कर पाया, तथापि ऐसा अनुमान किया जाता है कि इन भारत तथा सीथिया देश के राजाओं का राज्यकाल ईस्वी सन् प्रथम शताब्दी के अन्त अथवा द्वितीय शताब्दी के प्रथम भाग से कम नहीं होना चाहिये, क्योंकि कनिष्क ईस्वी सन् ७८–७९ में गद्दी पर बैठा था ऐसा इतिहासज्ञों ने सिद्ध किया है।

किन्तु कुछ लेख ऐसे भी हैं जो इन राजाओं के राज्यकाल से पहले के हैं। डाक्टर बूलर साहब का ऐसा मत है।

प्रथम लेख :—

"सिद्धं, सं० २०, ग्र० १–दि० २५, कोटियतो गणातों, वाणियतो कुलतो, वयरीतो साखातो, सिरिकातो भत्तितो, वाचकस्य आर्य्य संघ सिंहस्य निवर्तनं, दत्तिलस्य——वि——लस्य कोट्ट बिणिय जयवालस्य, देवदासस्य, नाग-दिन्नस्य, च नागदिन्नाये च मातु सराविकाये दिण्णाए दाणं। ई। वर्धमान प्रतिमा[1]॥"

1. Alaxander Cunningham C. S. I. ने Archeological Report Vol. III Page 31 में No. 6 Plate, No. 13-Sumvat 20-Jain Figure; लिख कर इस लेख की नकल की है जिसका अर्थ लिखा हुआ है परन्तु उस के नीचे उसने अपनी तरफ़ से जो नोट लिखा है उसे पाठकों

अर्थ :—विजय ! संवत् २० उष्णकाल का प्रथम मास, मिति २५ को कौटिक गण, वाणिज कुल, वयरि शाखा, सिरिका विभाग के वाचक आर्य संघ सिंह की निर्दरतन (प्रतिष्ठित) है। श्री वर्धमान (प्रभु) की (यह) प्रतिमा दत्तिल की बेटी, बी...... लाकी स्त्री, जयपाल, देवदास तथा नागदिन्न (नागदत्त) की माता नागदिन्ना श्राविका ने अर्पण की (डाक्टर बूलर)

दूसरा लेख :—

नमो अरहताणं, नमो सिद्धाणं सं० ६२ ग्र० ३ दिन ५ अस्यां पूर्वाये रारकस्य आर्य्य कक संघस्तस्य शिष्य आतपिको गहवरी यस्य निर्वतणं चतुर्वर्ण संघस्य या दिन्ना पडिमा ग० वैहिकाये दत्ति ॥ इ

अर्थ :—अरहंतों को नमस्कार, सिद्धों को नमस्कार, संवत्

की जानकारी के लिये यहां लिख देते हैं। वह इस प्रकार है :—

This inscription which is dated in the samvat year 20, in the first month of Grishma (the hot season) the 25th day, records the gift of one statue of Vardhman (Pratima 1) and as the figure is naked, there can be no doubt that it represents the Jain Vardhman or Mahavira the twentyfourth Pontiffs.

(B. C. 37)

यह मूर्ति भगवान् महावीर की दो हजार वर्ष पुरानी है।

(सम्पादक)

६२[1], उष्ण काल का तीसरा महीना, मिति ५ को आर्य कक्क संघ के शिष्य आतपीक औगहक आर्य द्वारा प्रतिष्ठित करवा कर चतुर्विध (साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका) संघ की अर्चना के लिये अर्पन की।[2]

१—यह संवत् भारत और सीथिया नरेशों के संवत् के साथ सम्बन्ध नहीं खाता किन्तु इन के पहले के किसी राजा का संवत् प्रतीत होता है, क्योंकि इस लेख की लिपि इस काल की लिपि से अति प्राचीन है (डाक्टर बूलर)

२—इस लेख का अनुवाद जो डाक्टर बूलर ने किया है वही अक्षरशः अनुवाद इस प्रश्नोत्तर के लेखक आचार्य ने लिखा है परन्तु इस आवृत्ति में उस अनुवाद को यहां फुट नोट में देना उचित इस लिये समझा है कि डाक्टर बूलर का अर्थ कुछ शंकास्पद है। और मूल लेख को दृष्टि में रखते हुए यथा संभव जो अर्थ होना चाहिये देने की चेष्टा की है। क्योंकि इसके मूल लेख की प्रति लिपि करते समय बूलर साहब कई शब्दों का ठीक वांचन नहीं कर पाये ऐसा उनके दिये हुए लेख से स्पष्ट व्यक्त है।

(संपादक)

इस लेख का डाक्टर बूलर कृत अर्थ :—

अरहंतों को नमस्कार, सिद्धों को नमस्कार, संवत् ६२, उष्ण काल का तीसरा महीना, मिति ५, को जिस समुदाय में चार वर्ण का समावेश होता है उस समुदाय के उपभोग के लिये (अथवा हरेक वर्ग के वास्ते एक-एक हिस्सा इसे प्रमाण से एक या देने में आया था, या यह क्या वस्तु होगी सो मैं नहीं जानता हूँ, 'पतिभोग अथवा पतिभाग इन दोनों में से कौन सा शब्द पसन्द करने योग्य है अथवा नहीं; यह भी मैं नहीं कह सकता)

तीसरा लेख :—

सिद्धं । महाराजस्य कनिष्कस्य राज्ये संवत्सरे नवमे (९) मासे प्रथ० (१) दिवसे ५, अस्यां पूर्वाये, कोटियतो गणतो, वाणियतो कुलतो वयरी तो साखातो वाचकस्य नागनंदिस्य निवर्तनं ब्रह्मधूतये भट्टिमित्तस्य कोडुंबिणिये विकडाये श्री वर्द्धमानस्य प्रतिमा कारिता, सव सत्त्वान हित-सुखाये ।

अर्थ :—विजय ! महाराजा कनिष्क के राज्य में नवमें वर्ष के पहिले महीने में मिति ५ के दिन ब्रह्मा की बेटी, भट्टि मित्र की स्त्री विकटा ने सर्व जीवों के कल्याण तथा सुख के लिये कीर्तिमान वर्धमान की प्रतिमा कौटिक गण (गच्छ), वाणिज कुल, और वयरी शाखा के आचार्य नागनन्दि की निर्वरतना (प्रतिष्ठित) है ।

यह, आतपी को गहवरीरारा (राधा) का रहीस आर्य कर्क संघस्त (आर्य कर्क संघ शीत) का शिष्य का निवर्तन (होकर) वइहीक (अथवा वइहोता) की बत्तीस (यह नाम तोड़कर इस प्रकार अलग भी कर सकते हैं—आतपीक—ओगहव आर्य)। पीछे के भाग में यह स्पष्ट है कि निर्वर्तन इसके साथ एक ही विभक्ति में है। इस लिये अन्य दूसरे लेखों में भी प्रायः ऐसी ही पद्धति के लेख हैं। निर्वर्तयति का अर्थ सामान्यतया देता है अथवा पूरा करता है। इससे प्रायः यह प्रतीत होता है कि दी हुई वस्तु पूरी की गयी अर्थात् जिस आचार्य का नाम आगे आवेगा उसकी इच्छा से अर्पण की गई, अथवा पूरी की गयी ।

जब हम कल्पसूत्र की तरफ दृष्टि डालते हैं, तो उस मूल पाठ वाली प्रत के पत्रे ८१—८२ एस० बी० इ० वाल्युम २२ पत्रे २९३ से हमें ज्ञात होता है कि सुट्ठिय (सुस्थित) नामक आचार्य ने जो श्री महावीर प्रभु के आठवें पट्ट प्रभावक थे—कौटिक नामक गण स्थापन किया था। उस के विभाग रूप चार शाखायें तथा चार कुल हुए। तीसरी शाखा वयरी थी तथा तीसरा वाणिज नामक कुल था[1]। इससे यह स्पष्ट है कि मथुरा के लेखों में जो गण, कुल, शाखा के नाम दिये गये हैं, वे सब कल्पसूत्र के साथ मिलते हैं। परन्तु जिस सिरिका भत्तिका उल्लेख नं० ६ के लेख में आया है इसका कल्पसूत्र में उल्लेख नहीं मिलता। ऐसा प्रतीत होता है कि जब कल्पसूत्र की रचना हुई होगी उस समय यह विभाग नहीं होगा। इसका उल्लेख न मिलने का कारण यह भी हो सकता है कि कल्पसूत्र का संकलन करते समय

१—श्री कल्पसूत्र का मूल पाठ इस प्रकार है :—

थेरेहिंतो णं सुट्ठिय सुप्पडिबुद्धेहिंतो कोडियकाकंदिएहिंतो वग्घावच्चसगुत्तेहिंतो इत्थणं कोडियगणे णामं गणे निग्गए। तस्सणं इमाओ चत्तारि साहाओ, चत्तारि कुलाइं एवमाहिज्जंति। से किं तं साहाओ? साहाओ एवमाहिज्जंति, तंजहा-उच्चनागरी १ विज्जाहरी य २ वयरी य ३ मज्झिमिल्ला य ४। कोडिय गणस्स एया हवंति चत्तारि साहाओ। १। से तं साहाओ।

से किं तं कुलाइं? कुलाइं एव माहिज्जंति, तंजहा—पढमित्थ बंभलिज्जं, बिइयं नामेण वत्थलिज्जतु, तइयं पुण वाणिज्जं, चउत्थयं पण्हवाहणयं॥ २॥

(संपादक)

इस का विस्मरण रह गया हो[1] (डा० बूलर)

चौथा लेख :—

(पंक्ति १) संवत्सरे ६० व..........कोडुबिनी वेदानस्य व धुय। (पंक्ति २) वो – – गणतो – – वाह – कतो कुलतो मज्झमातो साखातो.........सनीकाये।

(पंक्ति ३) भत्ति सालाए थवानि..........।

१–ए. कनिंघम ने Arch Report Vol, III. Page 31 में No. 4, Plate No. 13, Samvat 9-Jain Padestal (जैन मूर्ति की पलांठी) लिखकर इस लेख की प्रतिलिपि की है और इस लेख के नीचे यह फुट नोट लिखा है :—

This important inscription is dated in the 9th Samvat year (Samvatsıai navame) in the first month (name of season lost) the fifth day during the reign of the great king Kanishk (B.C.48)

यह मूर्ति भी आज से दो हजार वर्ष पुरानी है। (सम्पादक)

२—ए. कनिंघम ने Artch. Report Vol. 3 पृष्ठ ३५ में इस लेख के विषय में निम्न नोट दिया है :—

This inscription is unfortunately too much multilated to be deciphered. It is dated in the samvat 90 in versa (in raining season) - (A.D. 33) Plate No. 15 script No. 19.

यह लेख भी आज से दो हजार वर्ष पुराना है। (संपादक)

इस उपर्युक्त लेख की सम्पूर्ण प्रतिलिपि का अर्थ करना संभव नहीं क्योंकि लेख अनेक स्थानों से नष्ट हो गया हुआ है तथापि प्रथम पंक्ति के अधूरे लेख को पढ़कर ऐसा अनुमान करना ठीक प्रतीत होता है कि इसको अर्पण करने का काम किसी स्त्री ने किया है। जो कि एक पुरुष की पत्नी (कुटुम्बिनी) तथा दूसरे की पुत्रवधु थी।

दूसरी पंक्ति का सम्पूर्ण लेख इस प्रकार था, ऐसा प्रतीत होता है :—

को (टितो) गणतो (प्रश्न) वाह (न) कता कुलतो सज्झमातो साखातो.........सनिकाये।

अर्थ :—कौटिक गण, प्रश्नवाहनक कुल, मध्यमा शाखा से।

इस उपर्युक्त लेख के रिक्तस्थानों की जो पूर्ती की गयी है, वह ठीक है, इस बात की सत्यता के लिये हम कल्पसूत्र एस, बी. इ. के पत्रे—२६३ में मध्यमा शाखा की उत्पत्ति के विषय में जो वर्णन है उसका प्रमाण देते हैं :—

इस कल्पसूत्र में ऐसा वर्णन है कि "सुस्थितसुप्रतिबुद्ध के दूसरे शिष्य प्रियग्रंथ स्थविर ने मध्यमा शाखा[1] स्थापित की"।

१—थेराणं सुट्ठिसुप्पडिबुद्धाणं कोडिय काकंदगाणं इमे पंच थेरा अन्तेवासी अहवच्चा अभिण्णाया होत्था, तंजहा—थेरे अज्ज इंददिण्णे, पियग्गंथे, थेरे विज्जाहर गोवाले कासवगुत्तेणं, थेरे इसिदत्ते, थेरे अरिहदत्ते। थेरेहिंतोणं पियग्गंथेहिंतो इत्थणं मज्झिमा साहा निग्गया। (कल्पसूत्र) (सम्पादक)

तथा इस लेख में जो मैने सुधार किया है, इसकी सत्यता का दूसरा प्रमाण यह है कि इस लेख में जितने अक्षर मिटे हुए हैं उतने ही अक्षरों को लिखने से यह पंक्ति सम्पूर्ण हो जाती है।

एवं इस संशोधित लेख से हम इस निर्णय पर भी पहुंचते हैं कि प्रोफेसर हर्मनजेकोबी ने जो तालिका—गणों, कुलों और शाखाओं की लिखी है वह सर्वथा ठीक है।

इस तालिका में पहले संज्ञा-शाला (गण), दूसरे आचार्यों की पंक्ति (कुल), तीसरे इन पंक्तियो (कुलों) में से निकलने वाली शाखाओं का वर्णन है।

इस से हम यह भी सरलता पूर्वक जान सकते हैं कि श्री कल्पसूत्र में जहां पर गण और कुल के उल्लेख के बिना केवल शाखा का वर्णन आता है उनका सम्बन्ध इन में से किसी गण और कुल से है।

अतः मध्यमा शाखा निःसंदेह कोटिक गण में से थी और उस के एक कुल में से निकली हुई थी। जिस कुल का नाम प्रश्न वाहनक अर्थात् पण्हवाहणय कहलाता है।

इस अनुसंधान की सत्यता के लिये हम यहां पर एक और प्रमाण देते हैं :—

राजशेखर अपने प्रबन्ध कोष, जो कि उन्होंने विक्रम संवत् १४०५ में रचा है, उसकी समाप्ति में अपने गुरु परम्परा के सम्बन्ध में इस प्रकार वर्णन करते हैं :—

"मैं कोटिक गण, प्रश्नवाहनक कुल, मध्यमा शाखा, हर्षपुरीय गच्छ, मलधारी सन्तान (अभयदेवसूरि को मलधारी नामक विरुद मिला था) की परम्परा से हूँ"।

इन प्रमाणों से यह बात निःसंदेह है कि इस लेख के जो अक्षर मिटे हुए हैं उनकी पूर्ती मैंने जो यहां की है वह सर्वथा ठीक है।

इस पंक्ति के पिछले शब्दों को सुधारने में मैं समर्थ हूं, इन शब्दों से इतना तो अवश्य प्रतीत होता है कि यह भेंट स्तम्भों की दी गयी होगी।

अब दूसरे तरफ़ की यथार्थ प्रतिलिपि निम्न प्रकार से पढ़ी जाती है :—

सिद्धं। सं० ५ हे० १ दि० १२ अस्य पूरवाये कोटो——

कनिघम द्वारा ली हुई इस उपर्युक्त प्रतिलिपि का अन्तिम शब्द जो अशुद्ध प्रतीत होता है इस का मैं संशोधन कर सकता हूँ। सो इस लेख को इस प्रकार पढ़ना चाहिये था।

"अस्यां पूरवाये कोट (ीय)"

किन्तु 'ट' के ऊपर का स्वर स्पष्ट मालूम नहीं देता और 'य' बांई तरफ़ का स्थान थोड़ा सा ही मालूम पड़ता है।

एक दूसरे लेख से भी कल्पसूत्र में वर्णित एक गण और उस के एक कुल के नामों का अपभ्रंश रूप में लेख नं० १० चित्र नं० १४ से पता लगता है। इस लेख की अक्षरशः प्रतिलिपि यहां दी जाती है :—

(पंक्ति १) सं० ४७, ग्र० २, दि० २०, एतस्ये पूरवाये वारणे गति[1] पेती वामीक वाचकस्य रेहणंदीस्य

१—क्योंकि जैन लिपि में पड़ी मात्रा लगती है अतः इसी नियमानुसार लेख में 'गाण' (ाण=णे), लिखा होने से कनिघम ने 'ण' के आगे की 'ा' मात्रा का 'ि' और 'ण' को 'त' पढ़कर 'गति'

सागरस्य सेनस्य नीवतनं सावक दा

(पंक्ति २) ००० पशान वघयगीह...ग.भ... ग्रपा..न्ना .मात'....'॥

मैं इस लेख को पढ़कर निश्चय पूर्वक कह सकता हूं कि कनिघम ने इस लेख के कई अक्षरों को पढ़ने में भूल की है :— 'गति' के स्थान पर 'गणे' पढ़ना चाहिये था। यदि ऐसा ही हो तो 'वारणे' का भी 'गणे' के साथ सम्बन्ध होने से 'चारणे' पढ़ना चाहिये था। क्योंकि श्री कल्पसूत्र एस. वी. इ वाल्युम पत्रे २९१ के वर्णन से मिलाने से स्पष्ट है कि आर्य सुहस्ति के पांचवें शिष्य श्री गुप्त ने चारण[2] गण की स्थापना की थी। इस

समझा है। तथा 'वारणे' में च और व के लिखने में मात्र थोड़ा सा अन्तर होने से 'च के स्थान पर व' पढ़ कर उस ने 'चारणे' के स्थान पर 'वारणे' पढ़ने में भूल की है। ऐसा प्रतीत होता है। (सम्पादक)

(१) Alaxander Cunningham C. S. I. Arch. Report Vol. III Page 33, No. 10 Plate No. 14 Samvat 47 में इस लेख के नीचे यह नोट है :—

This inscription is dated in the Samvat year 47, the 2nd month of Grishma (the hot season) the 20th day (B.C. 10)

यह लेख दो हजार वर्ष पुराना है। (सम्पादक)

(२) थेरेहिंतोणं सिरिगुत्तेहितो हारियस गोत्तेहिंतो इत्थणं चारणे गणे णामं गणे निग्गए, तस्सणं इमाओ चत्तारि साहाओ, सत्त य कुलाइं एवमाहिज्जंति। (कल्पसूत्र) (सम्पादक)

गण का दूसरा कुल प्रीतिधर्मिक[1] है (पत्रा २६२)

इतना स्पष्ट होने के बाद—हम इस लेख में रही हुई अन्य अशुद्धियों के लिये भी कुछ विचार करना उचित समझते हैं।

अतः अब हम इस लेख में आये हुए "पेतिवम्मिक" शब्द पर विचार करते हैं। इस लेख में "पेतिवम्मिक-वाचकस्य" ऐसा लिखा है। इस शब्द का अर्थ यह है कि पेतिवाम्मक कुल के आचार्य के अर्थात् इन दोनों शब्दों की संधि हो जाने से कुल शब्द का लोप हो गया है। यदि 'पेतिवम्मिक' शब्द शुद्ध हो तो इस का हम संस्कृत में प्रइति-त्रमिक (प्रीतिवर्मन) साधक शब्द तद्धित के हिसाब से करे तो मेरी ऐसी मान्यता है कि इस शब्द की प्रतिलिपि करने में भूल हो गयी है। इस शब्द में 'व' के स्थान पर 'ध' होना चाहिये, क्योंकि 'ध और व[2]' की बनावट में बहुत ही कम अन्तर होने से कनिंघम ने भूल से 'ध को व' पढ़ा है सो यह शब्द "पेतिधम्मिक" होना चाहिये। ऐसा पढ़ने से इस का अर्थ स्पष्ट हो जाता है अर्थात् "प्रीतिधर्मिक कुल के आचार्य के", जिसका कल्पसूत्र में वर्णित 'पीइधम्मिअं (प्रीतिधर्मिक) से बराबर मेल बैठ जाता है।

दूसरी भूल यह है कि आचार्य के नाम 'रेहेणंदिस्य' शब्द

१—से किं तं कुलाइं ? कुलाइं एवमाहिज्जंति, तंजहा पढमित्थ वत्थलिज्जं बीअ पुण पीइधम्मिअ होइ। (कल्पसूत्र) (सम्पादक)

२—ध के ऊपर से यदि थोड़ा भाग घिस जावे अथवा कट जावे तो ध के स्थान पर व रह जाता है अतः ऐसा प्रतीत होता है कि इसी लिये कनिंघम ने 'ध' के स्थान पर 'व' पढ़ लिया होगा।

(सम्पादक)

में 'ह के ऊपर जो '`' की मात्रा है, वह वास्तव में पहिले 'र' अक्षर के साथ की है अतः यहां पर 'रेहे'[1] के स्थान पर अवश्य 'रोह' होना चाहिये। जो कि रोहगुप्त, रोहसेन आदि शब्दों से भी ज्ञात होता है। इस प्रकार पहिली पंक्ति का वांचन शुद्ध हो जाता है।

दूसरी पंक्ति में थोड़ा सा संशोधन करना आवश्यक प्रतीत होना है। यदि इस में 'प्रपा' शब्द शुद्ध हो और उसका शब्द बनता हो, तो जो वस्तु अर्पण की गयी है। वह पानी पीने का स्थान होना चाहिये।

अब मैं इस लेख के पिछले भाग में नीचे लिखे अनुसार थोड़ा सा बीच के मिटे हुए अक्षरों के स्थान पर प्रक्षेप करने की सूचना करता हूँ। और इस प्रकार यह लेख शुद्ध करने के बाद ऐसा हो जाता है :—

सं० ४७, ग्र० २, दि० २० एतस्यां पुरवाये चारणे गणे, पेतिधम्मिक (कुल) वाचकस्य, रोहणंदिस्य सीसस्य सेनस्य निवतणं, सावक दर······प्रपा (दि) ना······।

अर्थ :—संवत ४७, ग्रीष्म काल का दूसरा महीना, मिति

१—जैन लिपि के अनुसार पड़ी मात्रा के हिसाब से 'राह' ऐसा लिखा होने के कारण इस शब्द को पढ़ने में इसलिये भूल हो जाना सम्भव है कि यह अक्षर 'रा+ह' के स्थान पर 'र+ाह' पढ़ लिया गया है क्योंकि 'र=रे, ाह=हे' होता है और 'रा+ह=रोह' होता है यदि इस प्रकार पढ़ लिया जाता तोभूल न होती। (सम्पादक)

२० को चारण गण, पेतिधम्मिक (प्रीतिधर्मिक) कुल के आचार्य रोहनन्दि के शिष्य सेन के उपदेश से श्रावक दर .... ने एक पानी पीने का स्थान अर्पण किया।

यहां पर हम एक और लेख नं० २० चित्र नं० १५ का भी उल्लेख करते हैं जो कि कल्पसूत्र में वर्णित एक गण, कुल तथा शाखा का परिचय देता है :—

(पंक्ति १)—सिद्धं । ॐ नमो अर्हते महावीरस्य देवनासस्य राज्ञा वासुदेवस्य संवत्सरे ९८, वर्षा मासे ४, दिवसे ११, एतस्य

(पंक्ति २)—पूरवाये रेहिणीयातो गण – पुरधि – काकुलव पेतपुत्रिकातो साखा (तो) गणस्य आर्य्य देवदत्त – न

(पंक्ति ३)—र्य्य चणस्य (पक्ति ४)—प्रकगिर्ण (पंक्ति ५)—चदीथ प्रज (पंक्ति ६)—तस्य प्रवरकस्य धातृ वारुणस्य गंड्डकस्य मा – ये मित्रस – दत्तगा (पंक्ति ७)—ये – – – – वतो महा – – – – ।।

इस लेख में तीसरी पंक्ति से सातवीं पंक्ति तक संशोधन हो सके ऐसा सम्भव नहीं है क्योंकि इस लेख की कनिंघम द्वारा ली गयी असल प्रतिलिपि जो कि संशोधन करने में सहायक बन सके, इस समय मेरे पास नहीं है। किन्तु फिर भी पंक्ति ६ के 'मा – ये' में मिटे हुए अक्षर स्थान पर 'तु' अक्षर लिख देने से 'मातुये' (अर्थात् माता का) माता का। शब्द यह सूचित करता है कि यह भेंट भी किसी स्त्री के द्वारा की गयी थी। परन्तु

पंक्ति तीसरी दूसरी में लिखे हुए नाम वाले आचार्यों के साथ भेंट आदि का सम्बन्ध पंक्ति ४ से ७ तक संशोधन न होने से अन्धकार में ही रह जाता है।

सातवीं पक्ति के 'ये' अक्षर के बाद जो "– – – – वतो महा – – – –" जो चार-चार अक्षर मिटे हुए हैं उनके स्थान पर ये अक्षर होना सम्भव है (नमो भग) वतो महा (वीरस्य), इन शब्दों से अर्पण कर्ता ने भगवान् महावीर को दूसरी बार नमस्कार किया प्रतीत होता है।

तथा इस लेख की पहली पंक्ति में सब स्पष्ट है परन्तु इस में एक शब्द 'देवनासस्य' सन्देहात्मक अवश्य प्रतीत होता है। क्योंकि इसका अर्थ–"देवताओं का नाश करने वाला" होता है। यह विशेषण भगवान् महावीर के साथ मेल नहीं खाता किन्तु इसका संशोधन करने में मैं समर्थ नहीं हूं।

इस लेख की दूसरी पंक्ति में 'गण—' के आगे का एक अक्षर मिटा हुआ है यहां 'तो' अक्षर होना चाहिये। इस प्रकार 'गणतो' ठीक रूप बन जाता है। 'कांकुलव' के बदले 'का – कुलतो' और गणस्य के बदले 'गणिस्य' होना चाहिये। इस प्रकार संशोधन सब को सर्वथा ठीक प्रतीत होता है।

अब दूसरी पंक्ति में दिये गये नामों के विषय में विचार करना बाकी रह जाता है। सो करते हैं:—

'रेहिणीय' शब्द अशुद्ध प्रतीत होता है किन्तु यदि 'हि' के पहिले की मात्रा 'ि' के स्थान पर 'ा' मात्रा हो तो 'रोहणीय',

---

१—जैन लिपि के अनुसार पड़ी मात्रा के हिसाब से 'राह-नीय' ऐसा लिखा होने के कारण इस शब्द को पढ़ने में इसलिये

शब्द बनता है। इसका अर्थ यह है कि आर्य रोहण द्वारा स्थापित किया हुआ। आर्य रोहण नामक आचार्य जैन इतिहास (परम्परा) में अच्छी तरह से परिचित है। कल्पसूत्र एस. बी. इ. पत्रे २९१ में लिखे अनुसार आर्य सुहस्ति[1] के प्रथम शिष्य आर्य रोहण ने 'उद्देह गण' स्थापित किया था। इस गण की चार शाखाएं और छः कुल हुए। इसकी चौथी शाखा के नाम 'पूर्णपत्रिका' की उत्पत्ति को अधिक समय होने के कारण संभवतः इसका नाम 'पेतपुत्रिका' अपभ्रंश हो गया हो। अथवा यदि 'पेत' का शुद्ध अक्षर 'पोण' हो और कनिंघम ने इसे पढ़ने में भूल की हो तो इसमें शंका को किंचित् मात्र भी स्थान नहीं रहता; क्योंकि 'पूर्ण' का प्राकृत रूप 'पुण्ण-पोण' दोनों होते हैं।

भूल हो गयी प्रतीत होती है कि अक्षर ा र + ाह + नी + य इस रूप से पढ़ कर 'ाह' के बदले 'हि' पढ़ लिया गया है। अतः इस को इस प्रकार पढ़ना चाहिये था। "ारा + ह + नी + य = रो + ह + णी + य = रोहणीय" यदि ऐसा पढ़ लिया जाता तो भूल न होती। (सम्पादक)

१—इस दो अ गणहरा खलु, ए ए सीसा सुहत्थिस्स। थेरेहिंतो णं अज्ज रोहणेहिंतो कासवगुत्तेहिंतो तत्थणं उद्देहगणे नामं गणे निग्गए, तस्सिमाओ चत्तारि साहाओ निग्गयाओ, छच कुलाइं, एवमाहिज्जंति, से किं तं साहाओ; साहाओ एवमाहिज्जंति, तंजहा—उदुंबरिज्जिया १, मासपूरिआ २, मइपत्तिआ ३, पुण्णपत्तिआ ४, से तं साहाओ। से किं तं कुलाइं ? कुलाइं एवमाहिज्जंति, तंजहा—पढमं च नागभूअं १, बीअं पुण सोमभूइअं होई २, अह उल्लगच्छ तइयं ३, चउत्थयं हत्थलिज्जंतु ४, पंचमगं नंदिज्जं ५, छट्ठं पुण पारिहासयं होइ। (कल्पसूत्र)
(संपादक)

अतः इस व्याकरण के नियमानुसार 'पूर्ण पत्रिका' ही अधिक शुद्ध प्रतीत होता है। इन छहों कुलों में 'परिहासक' नामक भी एक कुल है। हो सकता है कि इस लेख में यह त्रुटित शब्द 'पुरिध-क' के साथ मेल खाता हो। क्योंकि मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि 'परिहा-क' के बदले 'पुरिध-क' भूल से पढ़ा गया है। (यदि 'हा' को मिलाकर पढ़ा जाये तो 'ध' पढ़ा जाता है। दूसरी पंक्ति के अन्त में पुरुष का नाम प्रायः छठी विभक्ति से होना चाहिये। इस लिये 'देवदत्त-त्र' को सुधार कर 'देवदत्तस्य' होना चाहिये। इस प्रकार इस संशोधन से पहली और दूसरी पंक्ति इस प्रकार पढ़ी जायगी :—

सिद्धं। नमो अरहते महावीरस्य देवनासस्य राज्ञा वासुदेवस्य संवत्सरे ९८, वर्षामासे ४, दिवसे ११, एतस्ये पूर्वाये आर्य्य र् (ओ) ह (अ) नियता गण (तो) प् (अ) रि (हास) क कुल (तो) प् (ओ ण्) अप् (अ) त्रिकातो साखा (तो) गण् (इ) स्य आर्य्य - देवदत्त (स्य) न······

इस का अर्थ इस प्रकार है :—

विजय। ॐ अर्हत् महावीर को नमस्कार करके, राजा वासुदेव के संवत् ९८ के वर्ष में, वर्षाऋतु के चौथे महीने में, मिति ११ के दिन आर्य रोहण के द्वारा स्थापन किये हुए गण के, परिहास कुल के 'पौर्ण पत्रिका' शाखा के गणि आर्य देवदत्त।

इन उपर्युक्त सब लेखों को पढ़ने से यह पता लगता है कि (१) मथुरा के जैन साधुओं के सम्वत् ५ से ९८ तक अथवा ईस्वी सन् ८३ से १६६-६७ के मध्यवर्ती काल में अनेक गण, कुल तथा शाखायें थे।

(२) तथा इन लेखों में लिखे हुए साधुओं के नाम के साथ वाचक, गणि, आचार्य आदि उपाधियों का भी उल्लेख है। जिसकी बुद्धिस्ट भाणक के साथ तुलना होती है। ये उपाधियां जैन धर्मानुयायी उन यति-साधुओं को दी जाती थीं जो साधु सम्बन्धी शास्त्रों (जैन-जैनेतर शास्त्रों) के प्रकांड विद्वान् होते थे एवं यति-श्रावकों को इन शास्त्रों को समझाने में निपुण (गीतार्थ) होते थे। जिस साधु को गणि (आचार्य) पदवी दी जाती थी वह उस गच्छ का नेता माना जाता था। इसलिये यह उपाधि बहुत बड़ी समझी जाती थी। वर्तमान काल में भी इसी पुरानी रीति के अनुसार आचार्य पदवी बड़े मुख्य साधु को देने की पद्धति है।

(३) शालाओं (गणों) में से कोटिक गण की बहुत शाखायें हैं और उन की प्रशाखायें हो कर दो कुल, दो शाखायें और एक भक्ति होता है। इसलिये इस का बहुत बड़ा इतिहास होना चाहिये।

(४) यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि इन लेखों से यह प्रमाणित होता है कि यह कोटिक गण ईस्वी सन् की प्रथम शताब्दी में अवश्य मौजूद था। तथा उस समय में जैन धर्म की प्राचीन काल से चली आने वाली आत्मज्ञान वाली शिष्य परम्परा विद्यमान थी (अर्थात् भगवान् महावीर के द्वारा उपदिष्ट ज्ञान को भगवान् महावीर के समय से लेकर आज तक कंठाग्र रखने वाले साधुओं की गुरु शिष्य परम्परा विद्यमान थी)। उस समय जैन साधु अपने धर्म के प्रसार के लिये सदा तत्पर रहते थे। एवँ इस काल से पूर्व भी अवश्य तत्पर रहते होंगे ?

(५) जब कि उस समय जैन साधुओं में वाचक पदवीधारी भी विद्यमान् थे, तो यह बात भी निःसन्देह है कि उन वाचकों से शास्त्रों का अभ्यास करने वाले साधुओं के अनेक गण (समूह) भी विद्यमान थे जिन को वे वाचक शास्त्रों का अभ्यास कराते थे। और जिन शास्त्रों का पठन-पाठन होता था वे शास्त्र भी अवश्य विद्यमान् थे।

(६). ये लेख कल्पसूत्र में वर्णित स्थविरावली से बराबर मिलते हैं, अर्थात् जिन गणों, कुलों, शाखाओं का वर्णन कल्पसूत्र में आता है उन्हीं गणों, कुलों तथा शाखाओं का इन लेखों में उल्लेख है। अतः ये लेख निःसन्देह प्रमाणित करते हैं कि श्वेताम्बर जैनों के परम्परागत अधिकतर इतिहास (शास्त्र) बनावटी नहीं हैं अर्थात् श्वेताम्बर जैनों के शास्त्रों को लगाये गये बनावटीपन के आरोप से ये शिलालेख मुक्त करते हैं (श्वेतांबर जैनों के शास्त्रों का अधिकतर भाग बनावटी नहीं है—किन्तु सत्य है)।

(७) तथा स्थविरावली के जिस भाग पर हम इस समय भरोसा रख सकते हैं उस में आये हुए विश्वास पात्र वृतांत से यह बात निःसन्देह सिद्ध हो जाती है कि उस समय श्वेतांबर जैनों की वृद्धि और उन्नति खूब थी। परन्तु इस भाग में भी अकस्मात् कहीं-कहीं पर ऐसी त्रुटियां और भूलें दृष्टिगत हो जाती हैं जिस पर से हमारी यह धारणा हो सकती है कि कोई फंठाग्र प्राचीन वृतांत को वर्त्तमान में लिखता हुआ बीच-बीच में विस्मृत हो गया है। यह परिणाम प्रोफेसर जेकोबी और मेरे समान जो व्यक्ति ऐसा अभिप्राय रखते हैं कि जैन दंत कथाओं (जैन श्वेतांबरों के लिखे हुए शास्त्रों की बात-) की आलोचना असाधारण नियम के आधार से नहीं करनी चाहिये अर्थात्

इनके इतिहास सम्बन्धी वृतांतों अथवा अन्य पंथों की दंत कथाओं से प्राप्त हुए दूसरे स्वतन्त्र प्रमाणों से यदि पुष्टि मिलती हो तो उसे स्वीकार कर लेना चाहिये और यदि ऐसी पुष्टि न मिलती हो तो जैन मत की शैली (स्याद्वाद) को वहाँ लगाकर उसका निर्णय कर लेना चाहिये उन को उत्तेजन देने वाला है।

(८) मथुरा के इन सब लेखों से यह बात भी स्पष्ट है कि उस समय मथुरा शहर में बसने वाले जैन लोग श्वेतांबर थे[1]।

(इति डाक्टर बूलर)

अब हम[2] भी इन लेखों को पढ़ कर जो कुछ समझे हैं सो लिखते हैं। जैन धर्म में वाचक, दिवाकर, क्षमाश्रमण ये तीनों उपाधियां उन आचार्यों को दी जाती थीं जो ग्यारह अंग और पूर्वों के ज्ञाता होते थे । जैसे कि वाचक[3] उमास्वाति

१—यहां तक मथुरा के सारे लेखों पर जो कुछ विवेचन—अभिप्राय आदि का उल्लेख किया है यह सब डाक्टर बूलर ने स्वयं लिखा है यह सब उसकी नकल है। (सम्पादक)

२—यहां से इस प्रश्नोत्तर पुस्तक के लेखक आचार्य विजयानन्द सूरि (प्रसिद्ध नाम आत्माराम जी महाराज) लिखते हैं।

(सम्पादक)

३—वाचक उमास्वाति का समय इतिहास के विद्वानों ने विक्रम की प्रथम शताब्दी निश्चित किया है। और उमास्वाति के नाम के साथ 'वाचक' पदवी का उल्लेख है। 'वाचक' शब्द का अर्थ 'पूर्ववित्' ग्यारह अङ्गों और पूर्वों को जानने वाला होता है। दिगम्बरों ने भी इनको 'श्रुत केवलिदेशीय' माना है जिसका अर्थ ग्यारह अङ्ग और पूर्वों का जानकार होता है। इस से यह स्पष्ट है कि वाचक पदवीधर आचार्य उमास्वाति पूर्वधर थे। इस

(तत्वार्थ सूत्र आदि ग्रन्थों के कर्ता) सिद्धसेन दिवाकर (सम्मति तर्क आदि अनेक ग्रन्थों के कर्ता, तथा राजा विक्रमादित्य के प्रतिबोधक), देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण (वर्त्तमान जैन आगमों के संकलनकर्ता जो—आगम भगवान् महावीर की पवित्र वाणी से प्रगट हुए थे और जिन्हें महावीर स्वामी से लेकर अपने समय तक के निर्ग्रंथों की गुरु-शिष्य परम्परा अक्षुण्य रूप से कंठाग्र रखती आयी थी)। अतः मथुरा के शिलालेखों में जिन 'वाचक' पदवीधारी आचार्यों का उल्लेख पाया जाता है वे सब ग्यारह अङ्ग और पूर्वों के कंठाग्र ज्ञानवान् थे। बूलर साहब ने सुस्थित नामक आचार्य जिन्होंने कौटिक गण की स्थापना की थी उनका समय वीरात् तीसरी शताब्दी (ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी) निश्चित किया है और जिस 'वयरि' शाखा का लेख है वह शाखा वज्रस्वामी ने स्थापन की थी; जिन का स्वर्गवास वीरात् ५८५ (ईसा की प्रथम शताब्दी) में हुआ था। और इस शाखा के अतिरिक्त इन लेखों में आये हुए कुलों और शाखाओं के संस्थापक आचार्य सुस्थित आचार्य के लगभग समय में हुए हैं।

तथा जिन आचार्यों ने इन मथुरा के शिलालेखों वाली मूर्तियों, स्तम्भों इत्यादि की प्रतिष्ठा कराई है उन का समय कनिंघम के मतानुसार ईसा पूर्व पहली शताब्दी से लेकर ईसा

से यह भी फलित होता है कि विक्रम की पहली दूसरी शताब्दी में 'वाचक' की पदवी उस आचार्य को दी जाती थी जो ग्यारह अङ्गों और पूर्वों का जानकार होता था। क्योंकि मथुरा शिलालेखों का समय विक्रम की पहली दूसरी शताब्दी है इसलिये यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इन में जिन प्रतिष्ठाकर्ता आचार्यों के नाम के साथ 'वाचक' पदवी का उल्लेख पाया जाता है वे सब 'पूर्ववित्' थे। (सम्पादक)

की पहली शताब्दी है।

इन लेखों को पढ़ने के बाद हम अपने दिगम्बर भाइयों को यह निवेदन करते है कि आप अपने मत का कदाग्रह छोड़ कर और निष्पक्षपात हो कर शांत चित्त से इन लेखों की तरफ़ ध्यान दें और विचार करें कि इन मथुरा के लेखों में लिखे हुए जो गणों, कुलों और शाखाओं के नाम हैं, वे सब जैन श्वेताम्बर धर्म मान्य कल्पसूत्र के साथ अक्षरशः मिलते हैं किन्तु तुम्हारे मान्य किसी भी ग्रंथ में इन नामों का उल्लेख नहीं है। यदि आप के किसी ग्रन्थ में इन गणों, कुलों और शाखाओं का वर्णन आता हो तो बतलाओ? इस से यह बात निःसन्देह सिद्ध हो जाती है कि मथुरा के शिलालेखों में लिखे हुए सब गणों, कुलों और शाखाओं के तथा आचार्यों के नाम श्वेतांबर जैनों के हैं।

इस पर से दिगम्बर भाईयों को निष्पक्षपात होकर सोचना चाहिये कि आप के संप्रदाय के आचार्य देवसेन ने जो अपने 'दर्शनसार' नामक ग्रन्थ में श्वेतांबरों की उत्पत्ति के विषय में गाथा लिखी है कि :—

"छत्तीस वास सए विक्कम निवस्स, मरण पत्तस्स।
सोरट्ठे वल्लहीए, सेवड संघ समुपन्नो॥"

अर्थ :—"राजा विक्रमादित्य की मृत्यु के १३६ वर्ष बाद सौराष्ट्र देश की वल्लभी नगरी में श्वेतपट (श्वेताम्बर) संघ उत्पन्न हुआ॥"

यह बात कहां तक ठीक है?

इन मथुरा के शिलालेखों से तो यह बात स्वतः सिद्ध हो जाती है कि आप का मत बहुत पीछे निकला है। और श्वेतांबर

जैनों के यहां जो यह वर्णन आता है कि "दिगम्बर मत भगवान् महावीर के ६०६ वर्ष बाद निकला है"; यही बात सत्य है। इसका विवेचन हम पहले प्रश्नोत्तरों में कर आये हैं सो जान लेना।

आधुनिक मतावलम्बी लुम्पक (ढूंढये-स्थानकवासी और तेरापन्थी) भाईयों को भी निवेदन करते हैं कि आप भी इन लेखों को पढ़कर विचार करें कि मथुरा से निकली हुई भगवान् महावीर की एक प्राचीन मूर्ति पर राजा वासुदेव के संवत् का उल्लेख है तथा दूसरी श्री महावीर प्रभु की प्रतिमा की एक पलांठी पर विक्रम राजा के पूर्ववर्ती किसी राजा का संवत् लिखा हुआ है एवँ इन प्रतिमाओं को बनवाने वाले श्रावक-श्राविकाओं के नाम लिखे हुए हैं; साथ ही इन प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा कराने वाले दस पूर्वधर आचार्यों के नाम लिखे हुए हैं तो फिर आप लोग जैन शास्त्रों में जहां जिन प्रतिमा का अधिकार आता है वहां पर कुछ दूसरा ही स्वकपोल कल्पित झूठा अर्थ करके जिन प्रतिमा का जो उत्थापन करते हो वह कहां तक उचित है।

इन शेलालेखों को पढ़ने और अर्थ करने वाले यूरोपियन विद्वान् हैं और इनके द्वारा किये हुए अर्थों को सब पौर्वात्य और पश्चिमात्य विद्वानों ने सत्य स्वीकार किया है।

अतः मनुष्य जन्म फिर पाना दुर्लभ है। थोड़े दिनों की जिंदगी है। झूठा पक्षपात छोड़कर आप को चाहिये कि स्वकपोल कल्पित इस बाईसटोला (ढूंढिया-स्थानकवासी) और तेरा-पंथ के पक्षपात को छोड़ कर श्री वीतराग सर्वज्ञ तीर्थंकर प्रभु द्वारा कथित शुद्ध जैन धर्म (तप गच्छादि) को स्वीकार कर अपने मनुष्य जन्म को सफल बनावें। मैंने यह हित शिक्षा आप को अपना प्रिय बांधव मानकर लिखी है।

१५८ प्र०—हम ने ऐसा सुना है कि जैनधर्म में जो प्रमाण-अंगुल (भरत चक्रवर्ती की अंगुल) का माप माना है वह उत्सेधांगुल (महावीर स्वामी के आधी अंगुल) से चार सौ गुणा अधिक है, इसलिये उत्सेधांगुल के योजन से प्रमाणांगुल का योजन चारसौ गुणा अधिक होना चाहिये। ऐसे प्रमाणयोजन से ऋषभदेव की विनीता नगरी बारह योजन लम्बी और नौ योजन चौड़ी थी। इन योजनों को उत्सेधांगुल-प्रमाण से यदि कोस बनाये जावे तो वह विनीता नगरी १४४०० कोस चौड़ी तथा १९२०० कोस लम्बी सिद्ध होती है। यदि यह एक नगरी सचमुच इतनी लम्बी चौड़ी हो तो अमरीका, अफ्रीका, रूस, चीन, भारत वर्ष आदि सर्व देशों में एक ही नगरी होगी ? तथा कई तो चार सौ गुणा लम्बाई चौड़ाई से भी सन्तोष नहीं मानते परन्तु एक हज़ार गुणा उत्सेध-योजन से प्रमाण-योजन मानते हैं तब तो विनीता ३६००० कोस चौड़ी और ४८००० कोस लम्बी सिद्ध होती है। आजकल के लोग तो इस कथन को एक बहुत बड़ी गप्प समझते हैं। इसलिये आप से ये प्रश्न पूछते हैं कि जैन धर्म के शास्त्रों के अनुसार आप कितना बड़ा प्रमाणयोजन मानते हैं ?

उ०—जैन धर्म के शास्त्रों के अनुसार विनीता तथा द्वारिका का माप एवँ सब द्वीपों, समुद्रों, विमानों, पर्वतों इत्यादि का माप जिस प्रमाण-योजन से कहा है, वह प्रमाण-योजन उत्सेधांगुल के योजन से दस गुणा तथा श्री महावीर स्वामी के हाथ के माप से दो हज़ार धनुष के एक कोस समान (श्री महावीर स्वामी के माप से सवा योजन) पांच कोस होता है। ऐसे प्रमाण-योजन से पूर्वोक्त विनीता, जम्बू द्वीप आदि का माप है। इस हिसाब से

विनीता, द्वारिका आदि नगरियां श्री महावीर के प्रमाण के कोसों से ५५ कोस चौड़ी तथा ६० कोस लम्बी सिद्ध होती हैं। इतनी बड़ी नगरी को कोई भी बुद्धिमान् पुरुष गप्प नहीं कह सकता। क्योंकि पुरातन काल में कन्नौज नगरी में ३०००० दुकानें तो मात्र पान वेचने वालों की थीं, ऐसा इतिहास लेखक लिखते हैं। इस से यह सिद्ध है कि यह नगर बहुत बड़ा होना चाहिये। इस समय भी विश्व में अनेक बड़े-बड़े नगर विद्यमान हैं। जैसे पेकिन, लंदन इत्यादि। तो फिर तीसरे-चौथे आरे में यदि नगर इन से अधिक भी बड़े हों तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है।

जो लोग चारसौ गुणा अथवा एक हजार गुणा उत्सेधांगुल के योजन से प्रमाणांगुल का योजन मानते हैं, वह शास्त्र सम्मत नहीं है।

अनुयोगद्वार सूत्र के मूलपाठ में ऐसा पाठ है :—उत्सेधांगुल से हजार गुणा प्रमाण-अंगुल होती है। इस पाठ का अभिप्राय यह है कि एक प्रमाणांगुल उत्सेधांगुल से चार सौ गुणा लम्बी तथा ढाई गुणा चौड़ी है एवं एक गुणा मोटी है।

इस के तीन टुकड़े करने से एक टुकड़ा एक उत्सेधांगुल चौड़ा एक उत्सेधांगुल मोटा तथा चार सौ उत्सेधांगुल लम्बा होता है। ऐसा ही दूसरा टुकड़ा होता है तथा तीसरा टुकड़ा एक उत्सेधांगुल चौड़ा, एक उत्सेधांगुल मोटा और दो सौ उत्सेधांगुल लम्बा होता है। इन तीनों टुकड़ों को लम्बे जोड़ने से एक उत्सेधांगुल चौड़ाई एक उत्सेधांगुल मोटाई तथा एक हजार उत्सेधांगुल लम्बाई होती है। अनुयोद्वार के मूलपाठ में जो हजार गुणी कहा है वह इस अपेक्षा से कहा है। परन्तु प्रमाणांगुल का स्वरूप नहीं है। हम जैसी चार सौ गुणी प्रमाणांगुल ऊपर लिख आये हैं वैसी है। इस चार सौ गुणी प्रमाणांगुल से श्री ऋषभ, देव,

भरत आदि की अवगाहना का माप है। परन्तु विनीता, द्वारिका, पृथ्वी, पर्वत, विमान, द्वीप, सागरों का माप, हजार गुणे या चार सौ गुणे अंगुली से नहीं है। इन नगरों तथा द्वीपादि का माप तो प्रमाणांगुल ढाई उत्सेधांगुल प्रमाण चौड़ी है। इस माप से इस की लम्बाई चौड़ाई का वर्णन है। यह जैन सिद्धांतकारों का मत है।

हमारी इस बात की पुष्टि जिणदास गणि क्षमाश्रमण कृत अनुयोगद्वार सूत्र की चूर्णि से हो जाती है। चूर्णि का पाठ :—

जेअपमाणंगुलाउ पुढवाय पमाणा आणिज्जंतितेअ पमाणंगुल विक्खभेण आणेयव्वा न पुण सूइ अंगुलेणंतिए यं च विरत गुणएण केइ एअस्स जं पुणमिणंति अन्नेउ सूइ अंगुलमाणेण न सुत भणियंतं।

अर्थ :—जिस प्रमाणांगुल से पृथ्वी, पर्वत, द्वीपादि का प्रमाण करते हैं उस प्रमाणांगुल की चौड़ाई ढाई उत्सेधांगुल प्रमाण से करना, परन्तु सूची अंगुल से पृथ्वी आदि का माप न करना। परन्तु कई ऐसा कहते हैं कि जिस एक प्रमाणांगुल में एक हजार उत्सेधांगुल होती है ऐसी उत्सेधांगुल से मापें एवं अन्य आचार्य ऐसा कहते हैं कि एक उत्सेधांगुल में चार सौ गुणा उत्सेधांगुल से पृथ्वी आदि का माप करना चाहिये। परन्तु हजार अंगुल तथा चार सौ अंगुल से मापने का मत सिद्धांत सम्मत नहीं है।

अंगुल सत्तरी प्रकरण के कर्ता श्री मुनिचन्द्र सूरि जी भी (जो विं० सं० ११६१ में विद्यमान थे) उपर्युक्त दोनों मतों को ठीक नहीं मानते।

अंगुल सत्तरी का पाठ :—

किंच मयेसु दोसु विमगहंगकालिंगमाइ आ सव्वेपायेणात्थि देसाणगंमि य जोयणे हुंति ॥१६॥

अर्थ :—यदि ऐसा मानें कि एक प्रमाणांगुल में एक हजार उत्सेधांगुल अथवा चार सौ उत्सेधांगुल समा जाते हैं और इस प्रमाण से पृथ्वी आदि का माप करें तब तो प्रायः मगधदेश, अंगदेश, कलिंगदेश आदि ये सब आर्य देश एक ही योजन में समा जावेंगे।

अतः दशगुणा उत्सेधांगुल के विष्कम्भ से ही माप करना सत्य है।

१५६ प्र०—आप के इस उपर्युक्त कथन को यदि सत्य मान लिया जावे तो इस छोटे से माप वाली नगरी में पांच सौ धनुष की अवगाहना वाले इतने अधिक लोग कैसे समायेंगे तथा द्वारिका आदि में करोड़ों घर कैसे समावेंगे एवं चक्रवर्ती के ९६०००००० (छयानवे करोड़) गांव इस छोटे से भरतखंड में कैसे बसेंगे ?

उ०—इन सब बातों के समाधान अंगुल सत्तरी नामक ग्रंथ में बहुत ही अच्छी तरह से दिये हैं, सो यह ग्रन्थ पढ़ कर देख लेना और पूर्वोक्त शंका का समाधान कर लेना।

प्रश्न नं० १५८ का उत्तर बुद्धिमानों को तो सन्तोषकारक होगा तथा असत्य रूढ़ि को मानने वालों को अचम्भाजनक होगा। इसी प्रकार जैन धर्म की अन्य भी कई बातें असत्य रूढ़ि से जैन शास्त्र से जो विरुद्ध हैं लोगों ने मान रखी हैं। उन का वर्णन हम यहाँ नहीं करते।

१६० प्र०—गुरु कितने प्रकार के हैं तथा वे किस-किस

की उपमा के समान हैं एवं रूप, उपदेश, क्रिया कैसे ? कैसे गुरु से, धर्मोपदेश नहीं सुनना चाहिये तथा कैसे से सुनना चाहिये।

उ०—गुरु आठ प्रकार के हैं जिन का स्वरूप इस प्रकार है :-

(१) **एक गुरु चाषपक्षी समान है।** इसका वर्ण सुन्दर होता है तथा इस का शकुन भी शुभ होता है (२) परन्तु उपदेश (वचन) सुन्दर नहीं है। (३) सावद्य आदि के खाने से क्रिया (चरित्र) अच्छी नहीं है।

(१) इसी प्रकार कई गुरु नाम धारियों में रूप (वेष) तो सुविहित साधुओं का है। (२) परन्तु अशुद्ध (उत्सूत्र) प्ररूपणा करने से उन का उपदेश शुद्ध नहीं है। (३) तथा उनकी क्रिया भी मूल गुण, उत्तर गुण रूप नहीं है, प्रमादवश निरवद्य आहार आदि ग्रहण नहीं करते।

कहा है कि :—

"दगपाणं पुप्फ-फलं अणेसणिज्जं गिहत्थ किच्चाइं अजया-पडिसेवंति जइवेस विडंब गानरं॥" इत्यादि

अर्थ :—जो सचित्त पानी, पुष्प-फल, अनेषणीय आहार तथा गृहस्थ के काम करता है, जीवहिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन, परिग्रह, रात्रि भोजन, स्नानादि असंयम का सेवन करता है वह यति के वेष की विडम्बना करता है। अर्थात् ऐसा यति वेषधारी व्यक्ति श्रावक के आचार से भी हीन है। मात्र इतना ही नहीं किन्तु यति के वेष को भी निन्दा कराता है।

वर्तमान काल में दुःखम आरे के प्रभाव से ऐसे यति वेष-धारी बहुत हैं। यहाँ पर उनके नाम नहीं लिखते। अतीत काल में तो ऐसे कुलवालादिकों के दृष्टान्त जान लेने चाहियें। (१) कुलवालक में सुविहित यति का वेष तो था (२) परन्तु माग-

धिका गणिका के साथ मैथुन करने में आसक्त था, इस लिये चरित्र भ्रष्ट था। (३) विशाला भांगादि का सेवन करता था, महारम्भ आदि का प्रवर्तक था, उसका चरित्र अच्छा न होने से उसका उपदेश भी शुद्ध नहीं था।

ऐसे ही (१) महाव्रतादि रहित (२) उत्सूत्र प्ररूपक (गुरुकुल वास त्यागी) ऐसा व्यक्ति कदापि शुद्ध मार्ग का उपदेश नहीं दे सकता। (३) मात्र यति वेष धारक है।

दूसरा गुरु क्रौंच पक्षी समान है।

क्रौंच पक्षी में (१) सुन्दर रूप नहीं है क्योंकि देखने योग्य सुन्दर वर्णादि के अभाव से (२) क्रिया भी अच्छी नहीं है क्योंकि कीड़े आदि का भक्षण करने से (३) किन्तु उपदेश (मधुरध्वनि रूप) है।

(१) ऐसे ही कई गुरुओं में रूप नहीं है चारित्रवान् साधु के समान वेष के अभाव से (२) सत् क्रिया भी नहीं, महाव्रत रहित तथा प्रमाद के सेवन से (३) परन्तु उपदेश शुद्धमार्ग प्ररूपणा रूप है। प्रमाद में पड़े हुए तथा परिव्राजकादि के वेषधारी प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभ देव के पोते मारीचि आदि के समान अथवा पासत्थे आदि के समान।

क्योंकि पासत्थे में (१) न तो साधु समान क्रिया है (२) और न ही सुविहित साधु समान प्रायः वेष भी है—यथा :—

वत्थं दुपडिलेहिय पमाण सकन्निअं दुकूलाई इत्यादि।

अर्थ :—वस्त्र दुप्रतिलेखित प्रमाण रहित सदशक पत्थेवड़ी रखता था इसलिये उसका (२) सुविहित का वेष नहीं था (३) परन्तु शुद्ध प्ररूपक (उपदेष्टा) था।

एक यथाछन्दे को छोड़ कर (१) पासत्थे (२) अवसन्ने

(३) कुशील (४) संसक्त—ये चारों शुद्ध प्ररूपक हो सकते हैं।

परन्तु नन्दिषेण सरीखे जो प्रतिदिन दस व्यक्तियों को प्रतिबोध करते थे उनको इन क्रौंच पक्षी समान गुरुओं की कोटि में मत समझना क्योंकि नंदिषेण का श्रावक का लिंग था।

तीसरा गुरु भ्रमर (भंवरे) के समान है।

भ्रमर में (१) सुन्दर रूप नहीं हैं क्योंकि वह काला है (२) उपदेश उसका सुन्दर नहीं है क्योंकि उसका मधुर स्वर नहीं है। (३) मात्र क्रिया है क्योंकि उत्तम फूलों में से उन फूलों को बिना दुःख दिये ही उनके परिमल का पान करता है।

वैसे ही कई गुरु (१) यति के वेष वाले भी नहीं हैं (२) उपदेशक भी नहीं है (३) परन्तु क्रिया है। जैसे प्रत्येक बुद्धादिकों में प्रत्येक बुद्ध, स्वयंबुद्ध तीर्थंकरादि। ये यद्यपि साधु तो हैं परन्तु तीथगत साधुओं के साथ (१) प्रवचन (२) लिंग से साधर्मिक नहीं हैं इसलिये यति वेश भी नहीं है :—

"देशनाऽनासेवकः प्रत्येकबुद्धादिरित्यागमात्" (३) क्रिया तो है क्योंकि इसी भव से ही मोक्ष प्राप्त होता है।

चौथा गुरु मोर समान है।

जैसे मोर में (१) पंच वर्ण मनोहर रूप तो है (२) मनोहर शब्द का रूप भी है (३) परन्तु क्रिया नहीं है क्योंकि सर्पादिकों को भी भक्षण कर जाता है इस लिये निर्दयी है। वैसे ही कई गुरुओं में (१) वेष भी है (२) उपदेश भी अच्छा है (३) परन्तु सत् क्रिया नहीं है मंगवाचार्य के समान।

पांचवां गुरु कोकिला (कोयल) समान है।

कोयल में (१) सुन्दर उपदेश (शब्द) तो है पंचम स्वर गाने से, (२) क्रिया आम की मंजरी आदि आहार के खाने से।

कहा भी है कि:—

"आहारे शुचिता, स्वरे मधुरता, नीडे निरारंभता।
वंधौ निर्ममता, वने रसिकता, वाचालता माधवे॥
त्यक्त्वा तद्विधकोकिलं, मुनिवरं दूरात्पुनर्दाम्भिकं।
वन्दन्ते बत खंजनं, कृमिभुजं चित्रा गतिः कर्मणाम् ॥१॥

(३) परन्तु रूप नहीं है काकादि से भी हीन रूप होने से।

वैसे ही कई गुरुओं में (१) सम्यक् क्रिया, (२) सम्यक् उपदेश तो होता है (३) परन्तु रूप (साधु का वेष) किसी हेतु से नहीं हैं। सरस्वती साध्वी को छुड़वाने के लिए यति वेष त्यागी कालिकाचार्यवत्।

छठा गुरु हंस समान है

हंस में (१) रूप प्रसिद्ध है (२) क्रिया कमलनालादि आहार करने से अच्छी है (३) परन्तु हंस में उपदेश (मधुर स्वर) कोयल तथा तोते आदि के समान नहीं है।

वैसे ही कई गुरुओं में (१) साधु का वेष (२) तथा सम्यक् क्रिया तो है (३) परन्तु उपदेश नहीं। उसे गुरु ने उपदेश करने की आज्ञा नहीं दी, अनधिकारी होने से-धन्ना शालिभद्र आदि महा ऋषियों के समान।

सातवां गुरु तोते समान है

तोते को यहाँ बहुविध शास्त्र-सूक्त कथादि परिज्ञान प्रागल्भ्य-वान ग्रहण करना।

(१) तोता रूप से भी रमणीय है (२) क्रिया आम, केला, अनार फल आदि पवित्र आहार करता है इस वास्ते अच्छी है (३) उपदेश-वचन मधुरादि तोते का प्रसिद्ध है।

वैसे ही कई गुरु (१) वेष, (२) उपदेश तथा (३) सम्यक् क्रिया इन तीनों से संयुक्त हैं। जंबुस्वामी, वज्रस्वामी के समान।

आठवाँ गुरु काक समान है

जैसे काक (कौए) में (१) रूप सुन्दर नहीं (२) कडुआ शब्द बोलने से उपदेश भी अच्छा नहीं। (३) क्रिया भी अच्छी नहीं है। क्योंकि रोगी, बूढ़े बैलादिकों की आंखें निकाल लेना, चोंच मारना, तथा जानवरों का रुधिर मांस मलादि अशुचि आहार करने से।

वैसे ही कई गुरुओं में (१) रूप, (२) उपदेश (३) क्रिया तीनों ही नहीं हैं। ऐसे गुरु अशुद्ध प्ररूपक, संयम रहित, पासत्थे आदि हैं। सब परतीथिक भी इसी विभाग में जान लेना।

इनमें से किन का उपदेश सुनना योग्य है और किन का अयोग्य ?

इन आठों ही प्रकार के गुरुओं में से जो गुरु क्रिया रहित (संयम रहित) हैं वे सर्व त्यागने योग्य हैं। और जो गुरु क्रिया सहित हैं वे आदरने योग्य हैं।

परन्तु इन में भी जो गुरु उपदेश नहीं देते वे स्वतारक होते हुए भी दूसरों को नहीं तार सकते।

जो गुरु अशुद्ध उपदेशक हैं वे तो अपने को और श्रोता को संसार समुद्र में डुबाने वाले ही हैं, इसलिये वे तो सर्वथा त्यागने योग्य ही हैं।

तथा शुद्धोपदेशक, क्रियावान् पद्म कोयलादि के दृष्टांत सूचक अङ्गीकार करने योग्य हैं। तीनों योग वाला (वेष, उपदेश तथा क्रिया) पद्म तोते के समान दृष्टांत वाला गुरु सब से उत्तम है।

शुद्ध गुरुओं के अभाव से शुद्ध प्ररूपक पासत्थादि चारों प्रकार के गुरुओं से भी उपदेश सुनना अपवाद में सम्मत है।

१६१ प्र०—इस जगत् में धर्म कितने प्रकार के हैं और उन्हें किन उपमाओं से जानना चाहिये ?

उ०—धर्म पाँच प्रकार का है। इनके नाम तथा उपमाएं नीचे लिखते हैं।

पहले प्रकार का धर्म।

(१) एक धर्म कथेरी (कांटों वाला) वन समान है। जैसे कंथेरी वन फल नहीं देता (निष्फल है)। सब प्रकार से उस में केवल कांटे ही कांटे होने से उस वन प्रवेश करने वालों को विदारणादि अनर्थ जनक होता है तथा उस वन में प्रवेश करना और निर्गमन करना भी दुष्कर है ॥१॥

इस वन समान नास्तिकों का माना हुआ धर्म है। सर्वथा किंचिन्मात्र भी शुभ फल नहीं देता तथा परभव में नरकादि के दुःखों को देता है। इस लोक में निन्दा होती है। नृपादि के दंड के भय से, लोगों के घृणा पात्र होने के भय से इस कुकर्मी नास्तिक मत में प्रवेश करना दुष्कर है। जो इस मत में प्रवेश कर गये हैं उनको स्वेच्छानुसार मद्य मांसादि भक्षण, माता-बहिन-बेटी का विचार तथा विवेक किये विना ही अपेक्षा रहित स्त्रियों से भोगादि विषयों के सुख को लम्पटा से भोगते हुए उस मत से निकलना भी मुश्किल है। इस लिये यह धर्म सुज्ञ लोगों को सर्वथा त्यागने योग्य है। इस मत में धर्म के लक्षण तो है ही नहीं किन्तु इस मत के अनुयायी लोगों ने इसे धर्म मान रखा है। इसी लिये हम ने यहां इस नास्तिक मत का नाम धर्म ही लिखा है।

दूसरे प्रकार का धर्म ।

(२) एक धर्म बबूल (कीकर), खदिर (खैर), बेरी, करीरादि द्वारा मिश्रित वन समान है। यह वन विशिष्ट शुभ फल नहीं देता किन्तु सांगरी, बबूल की फली आदि सामान्य नीरस फल देता है। सांगरी पक्की शुष्क हुई तो किंचित् प्रथम खाते हुए मीठी लगती है परन्तु कंटकाकीर्ण होने से विदारणादि अनर्थ का हेतु होती है।

इन वन समान बौद्ध धर्म है। क्योंकि ब्रह्मचर्यादि कितनी एक सत् क्रियाएं तथा ध्यान योगाभ्यासादि के करने से मरने के बाद व्यंतर गति में उत्पन्न होने से किंचित् शुभ सुख रूप फल भोग में देता है। बौद्ध शास्त्रों में कहा भी है :—

"मृद्वी शय्या प्रातरुत्थाय पेया, भक्तं मध्ये पानकं चापराह्णे।
द्राक्षाखण्डं शर्करा च अर्द्धरात्रौ, मोक्षश्चान्ते शाक्यपुत्रेण दृष्टः ॥१॥
मणुन्न भोयणं, भुच्चा मणुन्नं, सयणासणं मणुन्नं,
सियागारंसि मणुन्नं, झायए मुणी ॥ २ ॥ इत्यादि"

बौद्ध मत के शास्त्रानुसार अपने शरीर को पुष्ट करना, मन के अनुकूल आहार करना, शय्या आदि के भोग से और बौद्ध भिक्षु के पात्र में कोई मांस दे देवे तो उस को भी खा लेना, स्नानादि के करने से पांचों इन्द्रियों के पोषण रूप तथा तप न करने से, इत्यादि कार्यों में मीठा (प्रिय) लगता है। परन्तु भवांतर में दुर्गति आदि अनर्थ फल उत्पन्न करता है। इस लिये यह धर्म भी त्यागने योग्य है।

तीसरे प्रकार का धर्म ।

(३) एक धर्म पर्वत के वन तथा जंगली वन समान है।

इस वन में (१) थेहर, कंथेरी, कुमार प्रमुख के फल देने वाले वृक्ष हैं तथा कंटकादि से विदारण करने से अनर्थ के भी जनक हैं। (२) तथा इस वन में शीराम, शाल, पनस आदि ऐसे वृक्ष भी होते हैं जिन के फल तो निःसार होते हैं किन्तु अनर्थ जनक नहीं हैं।

(३) कई वृक्ष इस वन में वेरी आदि के समान निःसार अशुभ फल देते हैं तथा कंटकादि के विदारण के कारण अनिष्ट जनक भी हैं।

(४) वन में कितनेक किशाकादि वृक्ष हैं, ऊपर से मीठे तथा परिणाम में विरस फल के देने वाले होते हैं।

(५) वन में कई गूलर, बिल्वादि फल निःसार शुभ फल वाले कंटकादि के अभाव से अनर्थ जनक नहीं हैं।

(६) वन में नारिंग, जंबीर, करणादि मध्यम फलों के वृक्ष हैं परन्तु अनर्थ जनक नहीं हैं।

(७) वन में रायण (खिरणी), आम, इत्यादि सरस, शुभ, सरस, फल पुष्प वाले वृक्ष हैं, ये सब स्वामी बिना के हैं अथात् इनका कोई स्वामी नहीं है।

इसी प्रकार अधम, मध्यम, उत्तम वृक्षों की विचित्रता से पर्वत के वनों की भी विचित्रता जाननी चाहिए। इस वन समान तापस, नैयायिक, वैशेपिक, जैमिनीय, सांख्य, वैष्णव आदि आश्रित सर्व लौकिक धर्म तथा चरक परिव्राजक, इनको विचित्रता से विचित्र प्रकार का फल है, सो ही यहां दिखलाते है :—

(१) कितनेक वेदोक्त महायज्ञ, पशु वध रूप स्नान होमादि करके धर्म मानते हैं। वे कथेरी वन के समान हैं। पर भव में अनर्थ रूप प्रायः जिनका फल होगा तथा कई तो तुरमणीशदत्त राजा के समान मात्र नरकादि फल वाले होते हैं। अरण्यक में

कहा है :—

"ये वै इह यथा यथा यज्ञेषु पशून्विशंसति ते तथा तथा इत्यादि ।"

शुक संवाद में कहा है :—

"यूपं छित्वा, पशून् हत्वा, कृत्वा रुधिरकर्दमं ।
यद्येवं गम्यते स्वर्गे नरके केन गम्यते ॥१॥"

स्कन्ध पुराण में कहा है :—

"वृक्षां छित्त्वा, पशून् हत्वा, कृत्वा रुधिरकर्दमं ।
दग्ध्वा वन्हौ तिलाज्यादि, चित्रं स्वर्गोऽभिलष्यते ॥१॥"

(२) कई लोगों को अपात्रों को अशुद्ध दान, गायत्र्यादि के जापादि प्रभाव से यदि सामान्य फल देने वाली सामग्री विशेष भी मिले तो भी वह धव-पलाशादिवत् किंचित् फल जनक है परन्तु अनर्थ जनक नहीं है। यहां पर इस का स्वरूप नीचे लिखे तीन दृष्टांतों से समझ लेना चाहिये। (१) प्रतिदिन लाखों का दान देने वाले सेठ के समान जो कि मर कर हाथी हुआ। (२) दानशालादि कराने वाले नन्दमणिकार के समान। (३) सचेतनक हाथी के जीव लक्ष भोजी ब्राह्मण के समान।

(३) कई तो सावद्य (पाप वाला) अनुष्ठान, तप, नियम दानादि अन्याय से द्रव्य उपार्जन करके कुपात्र दानादि से खेजड़ी के समान किंचित् राज्यादि असार अशुभ फल, प्राप्त करते हैं और दुर्लभ बोधिपणा, हीन जातित्व, परिणाम विरसादि अनर्थ भी प्राप्त करते हैं। (१) कौशिक के पिछले भव में तपस्वी के समान। जैनमती नाम मिथ्या दृष्टि सुसढादि देव गति में गये तथा बहुत संसारी हुए क्योंकि उन्होंने मिथ्या तप किया था।

(४) कई जीव किंपाकादि फल के समान असत् आग्रह कर के देव, गुरु के प्रत्यनीकादि भाव वाले तथाविध तपानुष्ठानादि करके एक बार स्वर्गादि फल प्राप्त कर लेते हैं परन्तु बहुल संसार

तिर्यच नरकादि के दुःख प्राप्त करते हैं। गोशालक, जमालि आदि वत्।

(५) कई जीव भद्र परिणाम मे विशेष पात्र गुणादि परिज्ञान रहित दान पूजादि मिथ्यात्व के राग से करते हैं, वे उदूंबर आदि वत् किंचित् राज्य, मनुष्य के भोग सामग्री आदि असार शुभ ही प्राप्त करते हैं। दूसरे अनुरोध से दान देने वाले सुन्दर वणिक के समान जैन धर्मानुयायी भी निदान सहित अविधि से तप अनुष्ठान दानादि करने वाले भी इसी कोटि में आते हैं। चन्द्र, सूर्य बहुत पुत्रादि के दृष्टांत से समझ लेवें।

(६) कई तापस आदि धर्मी पाप रहित बहुत तपोनुष्ठान कंद-मूल-फलादि सचित्त भोजन करने वाले अल्प तप वाले जम्बीर करण आदि वृक्ष के समान ज्यौतिष देव, भवनपति देव आदि की मध्यम देवर्द्धि फल प्राप्त करते हैं। श्री भगवान् महावीर अपने पूर्व के भवों में परिव्राजक पूर्ण तापस के समान तथा जैन धर्मानुयायी सरोस गौरव प्रमाद संयमी आदि मेंडक का वध करने वाले क्षपक मुनि मंगु आचार्य के समान फल प्राप्त करते हैं।

(७) कई तामली ऋषि के समान उग्र तप करने वाले, चरक परिव्राजक आदि धर्म वाले आम आदि वृक्षों के समान ब्रह्म देवलोक तक का सुख फल प्राप्त करते हैं।

ये सब पर्वत के वन समान कथन किये। परन्तु सम्यग्दृष्टि को ये सब त्याग करने योग्य हैं।

चौथे प्रकार का धर्म।

(४) एक धर्म नृप वन के समान श्रावक धर्म है। राजा के वन में आम, जामुन आदि जघन्य वृक्ष हैं। केला, नारियल, सोपारी आदि मध्यम वृक्ष हैं। माध्वीलता, तमाल, एलायची,

चन्दन, अगर, तगर, आदि उत्तम चंपकराज, चम्प जाति, पाढलादि फूल के तरु विचित्र प्रकार के हैं।

ये सब गिरिवन वृक्षों से सींचे, पाले हुए होने से अधिक फल, पत्र, पुष्प वाले हैं। सदा बहुत मूल्यवान् फलादि देते हैं।

इस उपर्युक्त वन समान श्रावक धर्म सम्यक्त्व पूर्वक बारह व्रतों की अपेक्षा जिनके तेरह सौ करोड़ से अधिक भेद हैं, ऐसा विचित्र प्रकार के धर्म को गुरु के समीप अङ्गीकार करने से परिगृहीत है, अज्ञानमय लौकिक धर्म से अधिक है तथा अतिचार-विषय-कषाय आदि चोर श्वापदादि से सुरक्षित है एवं गुरु उपदेश आगम के अभ्यास आदि से सदा सुसिच्यमान है। यह धर्म देवलोक के सुख को देने वाला है इस लिये जघन्य फल है।

सुलभ बोधि होने से, निश्चित शीघ्र सिद्धि के सुख को देने वाला होने से तथा मिथ्यात्वी के सुखों से बहुत सुभग आनन्द आदि श्रावकों के समान फल देने वाला है।

तथा उत्कर्ष से जो जीर्ण सेठ आदि के समान बारहवें अच्युत देवलोक के सुख को देने वाला है।

इस लिये बारह व्रत रूप श्राद्ध (श्रावक) धर्म गृहस्थों को यत्न से अङ्गीकार करना चाहिये एवं अधिक-अधिक शुद्ध भावों से पालना तथा आराधना चाहिये।

पांचवें प्रकार का धर्म।

(५) एक धर्म देवता के वन समान साधु धर्म है। देवता के वन में देवताओं की तारतम्यता से ऋद्धिमानों के क्रीड़ा करने के नन्दन वन आदि में भी राजा के वनवत् जघन्य,

मध्यम, उत्तम वृक्ष होते हैं। सर्व ऋतुओं के फलवान् वृक्षों के होने से तथा देवता के प्रभाव सर्व रोग विषादि दूर होते हैं। मन चिंतित रूप करण, जरा-पलित नाशक इत्यादि बहुत प्रभाव वाली औषधियां पत्र फलादि से संयुक्त है। पहले के चारों वनों से यह प्रधान वन है।

इस वन समान चारित्र धर्म भी पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ, स्नातक आदि विचित्र भेद वाला है। इस धर्म में अविराधक यति (साधु) धर्म वाले जानने। उन्हें जघन्य सौधर्म देवलोक के सुख रूप फल है।

आराधक श्रावक धर्म वाले से अधिक तथा बारह कल्प देवलोक, नवग्रैवेयकादि मध्यम सुख रूप फल है।

उत्कृष्ट तो सांसारिक अनुत्तर देवलोक के तथा संसारातीत मोक्ष फल है।

इस लिये यह धर्म अपनी सम्पूर्ण शक्ति से उत्तरोत्तर अधिक-अधिक आराधन करना चाहिये। यह सब धर्मों में उत्तम है।

यह कथन उपदेश रत्नाकर से किंचित् लिखा है।

१६२ प्र०—जैन धर्म में राजा भी जैन धर्मानुयायी होते होंगे, वे जैन धर्म का पालन कैसे कर सकते होंगे? क्योंकि हमें तो जैन धर्म राज्य धर्म का विरोधी मालूम पड़ता है।

उ०—गृहस्थावस्था का जैन धर्म राज्य धर्म (राज्य नीति) का विरोधी नहीं है। क्योंकि राज्य धर्म चोर, जार, खूनी, असत्यभाषी आदि को कानून (Law) के अनुसार दण्ड देता है। जैन राजा के प्रथम स्थूल जीव हिंसा त्याग रूप व्रत का राज्य नीति से विरोध नहीं है। क्योंकि प्रथम व्रत में निरपराधी प्राणी को न मारने का त्याग है। चोर, जार, खूनी (हत्यारा) असत्य-

भाषी इत्यादि अन्याय करने वाले तो राजा के अपराधी हैं। इस लिये उन्हें यथार्थ दण्ड देने से जैन धर्मानुयायी राजा के प्रथम व्रत का भंग नहीं होता। इसी प्रकार अपने अपराधी राजा के साथ युद्ध करने से भी उस का व्रत भंग नहीं होता। महाराजा चेटक, महाराजा संप्रति, महाराजा कुमारपाल के समान। तथा जैन धर्मावलम्बी राजा बारह्व्रत रूप गृहस्थ जैन धर्म बहुत अच्छी तरह से पालते थे। जैसे राजा कुमार पाल ने पाले।

१६३ प्र०—महाराजा कुमारपाल ने बारह व्रत धर्म किस प्रकार से ग्रहण किया और उसका पालन कैसे किया?

उ० – श्री कुमार पाल महाराजा ने श्री सम्यक्त्व मूल बारह व्रत पालन किये थे।

(१) सम्यक्त्व व्रत में त्रिकाल जिनेश्वर भगवान् की पूजा करता था।

(२) अष्टमी, चतुर्दशी में पौषधोपवास करता था तथा दूसरे दिन पारणे के समय तो कोई पुरुष दृष्टिगोचर होता उसे यथार्थ वृत्ति दान देकर सन्तुष्ट करता था।

(३) जो श्रावक कुमारपाल के साथ पौषध करते थे उन्हें अपने महल में पारणा कराता था।

(४) अपने गरीब तथा साधन हीन साधर्मियों का उद्धार करने में सदा तत्पर रहता था और प्रतिदिन एक हजार दीनार उनके उद्धार करने में देता था।

(५) एक वर्ष में साधर्मियों को एक करोड़ दीनार देता था, इस प्रकार चौदह वर्षों में चौदह करोड़ दीनार दिये।

(६) अठानवे लाख (९८०००००) रुपया उचित दान में दिये।

(७) बहत्तर लाख (७२०००००) रुपये के निःसंतान स्त्रियों के द्रव्य पत्र (अष्टाम अर्थात् राजा के द्वारा दिये गये ऋण के बदले में ऋण लौटाने के ब्याज सहित लिखाये हुए पत्र) फाड़े। अर्थात् ऋण छोड़ दिया।

(८) इक्कीस ज्ञान भंडार लिखवाये।

(९) नित्यप्रति श्री त्रिभुवनपाल विहार (जो कुमारपाल ने छयानवे करोड़ रुपये के खर्च से जिन मन्दिर बनवाया था) में स्नात्रोत्सव करता था।

(१०) श्री हेमचन्द्राचार्य जी के चरणों में सर्व प्रथम द्वादशावर्त्त वन्दन करता था।

(११) बाद में क्रम से सर्व साधुओं को वन्दन करता था।

(१२) जो श्रावक पहला पौषधादि व्रत करता था उस को वन्दन, मान, करता था तथा दानादि देता था।

(१३) अठारह देशों में अमारीपटह (जीव हिंसा न करने का अर्थात् जीवदया-अहिंसा करने की सर्वत्र घोषणा) कराया।

(१४) सब का पक्षपात बिना न्याय करता था।

(१५) अठारह देशों के सिवाय अन्य चौदह देशों में भी धन बल, मैत्री बल से जीव रक्षा कराई।

(१६) नये जैन मन्दिर १४४४ बनवाये।

(१७) सोलह सौ जीर्ण जिन मन्दिरों का उद्धार कराया।

(१८) सात बार तीर्थ यात्रा की।

इस प्रकार सम्यक्त्व की आराधना की।

१—प्रथम व्रत में—"निरपराधी को मारो"—ऐसे शब्द के कहने से एक उपवास करना।

२—दूसरे व्रत में—भूल से झूठ बोला जावे तो आचम्लादि (आयंबिल आदि) तप करना।

३—तीसरे व्रत में—निःसंतान मरे का धन नहीं लेना।

४—चौथे व्रत में—जैन धर्म स्वीकार करने के बाद विवाह करने का त्याग और वर्षाऋतु के चौमासे के चार मास त्रिधा (मन-वचन-काया से) ब्रह्मचर्य का पालन करना। यदि मन से टूटे तो एक उपवास करना। यदि वचन से टूटे तो एक आयंबिल करना। काया से टूटे तो एकासना करना। एक पर नारी सहोदर विरुद धरना। भोपालदेवी आदि आठों रानियों के मरने के बाद प्रधानादिकों के आग्रह से भी विवाह नहीं करना।

इस नियम का आजीवन पालन किया, किसी प्रकार का दोष नहीं लगाया।

आरात्रिकार्थ भोपालदेवी की सोने की मूर्ति करवाई।

श्री हेमचन्द्राचार्य जी से वासक्षेप पूर्वक राजर्षि विरुद (पदवी) प्राप्त किया।

५—पाँचवें व्रत में—छः करोड़ का सोना, आठ करोड़ की चांदी, हजार तोला प्रमाण बहुत मूल्यवान् मणिरत्न, बत्तीस हजार मन घी, बत्तीस हजार मन तेल, तथा लाख मूंढक (एक प्रकार का माप) शालि, चने, ज्वार, मूङ्ग इत्यादि धान्य रखे।

पांच लाख घोड़े, पांच हजार हाथी, पांच सौ ऊंट, पांच सौ घर, पांच सौ हाट, पांच सौ सभा गृह, पांच सौ यानपात्र, पांच सौ गाड़े, इत्यादि रखे।

ग्यारह सौ हाथी, पचास हजार रथ, ग्यारह लाख घोड़े, अठारह लाख सेना। इस प्रकार चतुरंगिणी सेना रखी।

६—छठे व्रत में—वर्षाकाल में पट्टन की सीमा से आगे नहीं जाना।

७—सातवें भोगोपभोग व्रत में—मदिरा, मांस, मधु (शहद) भक्षण का त्याग। बहु बीजे फल, पांच उदुंबर फल, अभक्ष्य-अनन्तकाय भक्षण का त्याग। घृत पूरादि का नियम। श्रीजिनेश्वर प्रभु की पूजा में बिना दिये नवीन वस्त्र-फल-आहार आदि ग्रहण नहीं करना। सचित्त वस्तु में-एक जाति का पान और उसके भी मात्र आठ बीड़े पान से अधिक एक दिन में नहीं लेना। रात्रि में चारों आहारों का त्याग। वर्षाकाल में मात्र एक ही घी की विकृति (विगय) लेनी बाकी विगयों का त्याग। हरित शाक सर्व का त्याग। सदा एकासना करना। पर्व के दिन अब्रह्मचर्य तथा सर्व सचित्त का त्याग।

८—आठवें व्रत में—सातों कुव्यसनों (मांस खाना, शराब पीना, जुआ खेलना, पर स्त्री गमन करना, शिकार करना, वेश्या गमन करना) को अपने राज्य में से निकाल दिये अर्थात् बन्द करा दिये।

९—नवमें व्रत में—दोनों समय (प्रातः सन्ध्या) सामायिक करना तथा सामायिक लिये हुए (सामायिक अवस्था में) हेमचन्द्राचार्य के सिवाय अन्य जन से नहीं बोलना। प्रतिदिन-योगशास्त्र के १२ प्रकाश तथा वीतराग स्तोत्र के बीस प्रकाश पढ़ने (स्वाध्याय करना)।

१०—दसवें व्रत में—शत्रु पर चढ़ाई नहीं करना।

११—ग्यारहवें व्रत में—पौषधोपवास में रात्रि में कायोत्सर्ग करना। पौषध के पारणे के दिन सब पौषध करने वालों को

भोजन कराना।

१२—बारहवें अतिथि संविभाग व्रत में—दुखिया सावर्मी श्रावक-श्राविकाओं को बहत्तर लाख द्रव्य का कर छोड़ा। श्री हेमचन्द्राचार्य के उतरने की धर्मशाला में मुखवस्त्रिका के प्रतिलेखन करने वाले सावर्मी को पांच सौ घोड़े तथा बारह गांव भेंट में दिये। सब मुख वस्त्रिका के प्रति लेखकों को पांच सौ-पांच सौ गांव दिये।

इत्यादि अनेक प्रकार की करनी विवेक शिरोमणि राजा कुमारपाल ने की। गुरु धर्म, कुमारपाल का यह वृत्तांत उपदेश-रत्नाकर से लिखा है।

१६४ प्र०—इस भारतवर्ष में जितने मत-पंथ इस समय चल रहे हैं वे किस क्रम से उत्पन्न हुए हैं। जैसे आपको ज्ञात हो वैसे लिखने की कृपा करें।

उ०—(१) सर्व प्रथम श्री ऋषभ देव से जैन धर्म चला। (२) इस के बाद सांख्य, (३) इस के बाद वैदिक कर्मकांड, (४) फिर वेदांत मत, (५) पीछे पातंजली मत, (६) पीछे नैयायिक मत, (७) फिर बौद्ध मत, (८) वैशेषिक मत, (९) शैव मत, (१०) वाममार्गी मत, (११) रामानुज मत, (१२) माधवाचार्य मत, (१३) निंबार्क मत, (१४) कबीर मत, (१५) नानक मत, (१६) वल्लभ मत, (११) दादुपंथ, (१८) रामानन्दी मत, (१९) स्वामी नारायण का मत, (२०) ब्रह्म समाज, (२१) आर्यसमाज मत, (दयानन्द सरस्वती ने स्थापन किया) क्रमशः चालू हुए।

इस कथन की पुष्टि के लिये जैन शास्त्र, वेद भाष्य, दंत कथाएं तथा इतिहास के ग्रन्थादि का प्रमाण है।

———

उपसंहार

अहमदाबाद निवासी और पालनपुर के न्यायाधीश राज्याधिकारी श्रावक गिरधारीलाल हीराभाई के द्वारा पूछे हुए प्रश्नों के उत्तर पालीताने में जिसको चतुर्विध संघ समुदाय ने आचार्य पदवी देकर विजयानन्द सूरि नाम दिया है, जिन का प्रसिद्ध नाम आत्माराम, मुनिकृत समाप्त हुए।

क्षमा याचना

इन सर्व प्रश्नोत्तरों में जो वचन जिनागम विरुद्ध भूल से लिखा गया हो उस के लिये मिथ्या दुष्कृत देता हूँ। सब सुज्ञजन आगमानुसार सुधार लेना और मेरे कहे उत्सूत्र का अपराध क्षमा करना।

॥ इति प्रश्नोत्तरावली नाम ग्रन्थ समाप्त ॥



गुरु प्रशस्ति

(अनुष्टप् वृत्तम्)

श्रीमद्वीरजिनेश्वरस्य शिष्यरत्नेषु ह्युत्तमः।
सुधर्म इति नाम्नाऽभूत पंचमः गुणभृत् सुधीः ॥१॥
अयमेव तपागच्छमहाद्रेर्मूलमुच्चकैः।
ज्ञेयः पौरस्त्यपट्टस्य भूषणं वाग्विभूषणम् ॥२॥
परंपरायां तस्यासीत् शासनोत्तेजकः प्रधीः।
श्री मद्विजयसिंहाव्हः कर्मठः धर्मकर्मणि— ॥३॥

तस्य पट्टांबरे चन्द्रः विजयः. सत्यपूर्वकः
अभूत् श्रेष्ठगुणग्रामैः संसेव्यः निखिलैर्जनैः ॥४॥
पट्टे तदीयके श्रीमत्कर्पूरविजयाभिधः ।
आसीत् सुयशाः ज्ञान-क्रिया-पात्रं सदोद्यमः ॥५॥
तत्पट्टवंशमुक्तासु मणिरिवेप्सितप्रदः ।
सिद्धांतहेमनिकषः क्षमाविजयः इत्यभूत् ।.६॥
जिनोत्तम-पद्मरूप-कीर्ति-कस्तूर पूर्वकाः ।
विजयांता क्रमेणैते बभूवबुद्धिसागराः ॥७॥
तस्य पट्टाकरे चिंतामणिरिवेप्सितप्रदः ।
मणिविजयनामाऽभूत् घोरेण तपसा कृशः ॥८॥
ततोऽभूत् बुद्धिविजयः बुद्ध्यष्टगुणगुम्फितः ।
प्रस्तुतस्यास्मदीयस्य गच्छवर्यस्य नायकः ॥६॥
चक्रे शिष्येण तस्येयं जैनप्रश्नोत्तरावली ।
सद्युक्त्या श्री मदानन्दविजयेन सविस्तरा ॥१०॥
संवत् बाण युगांऽकेंदुः पोषमास्यऽसितच्छदे ।
त्रयोदश्यां तिथौ रम्ये वासरे मंगलात्मनि ॥११॥
पल्लवि पार्श्वनाथाऽधिष्ठिते प्रह्लादनेपुरे ।
स्थित्वाऽयं पूर्णतां नीतः ग्रंथः प्रश्नोत्तरात्मकः ॥१२॥

१. संवत् १६४५.वि० ॥ इति ॥

प्रोप्राइटर लाला रोशनलाल जैन के प्रबन्ध से जैन प्रिंटिंग प्रेस
अम्बाला शहर में छपी ।

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	अन्तिम	हला	पहला
२	१८	ऋद्ध	ऋद्धि
३	२५	अवसपिणी	अवसर्पिणी
३	२६	उत्सपिणी	उत्सर्पिणी
५	१७	वस्थ	स्वस्थ
५	२१	प्रभवना	प्रभावना
६	२१	अनुयाग	अनुयोग
६	२१	चूणि	चूर्णि
६	२४	उत्सेध	उत्सेद्ध
७	१६	सुव्रतवाभी	सुव्रतस्वामी
८	२४	सिद्धाथ	सिद्धार्थ
८	२५	तीथकरो	तीर्थंकरों
९	२	भरतकंड	भरतखंड
१५	२२	सवशक्ति	सर्वशक्ति
१७	१	शोकगस्त	शोकग्रस्त
१८	७	जन्मोपाजित	जन्मोपार्जित
१९	२०	अनगारणा	अनगारपणा
२१	१२	९	६
२२	८	गोष्ट	गोष्ठी
२८	२१	ऋतुवालुका	ऋजुवालुका
२९	२	आतपना	आतापना
३१	३	मतार्य	मैतार्य
४२	१४	देवद्धिगणि	देवर्द्धिगणि
४८	२	अतिरिक्त	अतिरिक्त
५४	१	मूल सूत्र की संख्या	सूत्र का नाम
५६	अंतिम	आतुर	आतुर

५८	१	मूल सूत्रो की नाम	मूल सूत्रों की संख्या
५६	१	मूल सूत्र की संख्या	सूत्र का नाम
६०	१८	निवरणी	निवारणी
६६	११	Bibio	Biblio
६६	१४	isunani	is unani
६६	१५	fist	first
६६	१६	the the	the
६६	१७	fisrt	first
७४	५	जिन्होंने श्री हेमचन्द्र	श्री हेमचन्द्र जिन्होंने
८१	१७	सत्र	सूत्र
८६	१७	तार्थर	तीर्थंकर
१२०	८	क्या....	क्या क्या
१३७	१४	तियच	तिर्यञ्च
१३६	२१	क्षयोपशय	क्षयोपशम
१४६	६	प्राकर	प्रकार
१५३	१०	तीव्र	व्रती
१७१	१४	वक्र	वक्र
१७७	२	आचारण	आचरण
१६२	१०	सज्झमातो	मज्झमातो
२०३	२३	जक्रावी	जैकोबी
२०५	अंतिम	पर्ववित्	पूर्ववित्
२०८	५	याजन	योजन
२१०	४	द्रापादि	द्वीपादि
२१२	१	कै	कैसे
२१४	४	लिग	लिंग
२१६	११	परतीथिक	परतीर्थिक
२१६	१६	अथात	अर्थात्
२२१	१	तियच	तिर्यञ्च